भागवत दर्शन

खण्ड ७२

गीतावार्त्ता (४)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✱

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण १००० प्रति | पौष शुक्ल ७ मकर संक्रान्त २०२६ | मू० १-६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

सत्यनारायण भगवान् को महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार में सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते है। कलिकाल में सत्यनारायणव्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, अभी छपी है। पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

व्यवस्थापक

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३१६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४१ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारीजी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद् हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२८ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

विषय-सूची

अपनी निजी चर्चा

[३]

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं-
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्।*
(श्री भाग० ७ स्क० ६ अ०, १७ श्लोक)

छप्पय

चाहें हिय में धर्यो दूरि अति सतत रहैं ते।
जिनि तैं रंच न प्यार दारि हिय माहिँ दरैं ते॥
नाना योनिन मध्य नाथ हम भटकि रहे हैं।
रहिवो चाहें निकट और हू दूरि भये हैं॥
होहि भक्ति तव चरन में, साधन सुलभ सुझाइ दैं।
अब तक भटके भूल में, अब तो प्रभु अपनाइ लैं॥

---

* मैं बहुत सी योनियों में भटकता फिरा। जहाँ भी गया वही प्रिय का वियोग और अप्रिय की प्राप्ति यही होता रहा। दुःख निवारण की जो औषधि की वह भी दुखदायी ही सिद्ध हुई। जो आत्मा नही हैं ऐसी अनित्य वस्तुओं को आत्मा समझकर मैं न जाने कब से भटक रहा हूँ, मुझे यह बतायें कि आप का दास्य योग मुझे कैसे प्राप्त होगा।

अनेक योनियों में नाना रूप बनाकर जीवन जाने कब से भटक रहा। इसे शाश्वती शांति प्राप्त नहीं होती। जिसे शाश्वती शान्ति का साधन समझकर उसे पाने का प्रयत्न करता है, उससे और अशांति बढ़ती है। हम समझते हैं धनिक लोगों को शान्ति होगी, किन्तु जब उन्हें देखते है, वे हम साधारण लोगों से भी अधिक अशान्त हैं। जो अपने को उच्च कुल का कुलीन समझकर दूसरे कुल हीनों को हेय दृष्टि से देखते है, उन्हें भी हम अशान्त हो पाते हैं, जो बड़े आचार विचार से जप अनुष्ठान करते हुए समय बिताते हैं, उनके भीतर भी एक छिपी हुई अशान्ति रहती है। युवा वस्थापन्न नवयुवक जो सदा सर्वदा सबकी खिल्ली ही उड़ाते रहते हैं, वास्तव में देखा जाय, तो वे अपनी अशान्ति का ही प्रदर्शन करते फिरते हैं जो सुन्दर स्वरूपवान् लड़का-लड़की अपने सौन्दर्य के सम्मुख अन्य सभी साधारण रूप वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते है, वास्तविकता से देखा जाय तो वे भी दुखी हैं, अशान्त हैं, उन्हें भी कोई भारी अभाव अनुभव होता रहता है। जिन्हें हम बहुत भारी विद्वान् शास्त्रज्ञ समझते है और सोचते हैं, शास्त्राध्ययन से इन्हें शान्ति मिल गयी होगी, वे मूर्खों से भी अधिक अशान्त देखे जाते हैं। इसलिये हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि संसारी पदार्थों में शान्ति नहीं। हमें भ्रान्ति बनी रहती है, अपने से कोई किसी काम में बड़ा हो, तो हम अनुमान लगा लेते हैं, यह सुखी होगा, किन्तु वास्तव में सभी अशान्त हैं, सभी भटक रहे हैं, सभी किसी न किसी अभाव का अनुभव कर रहे है। इसका कारण यही है कि हम संसारी पदार्थों में शन्ति खोज रहे हैं, जहाँ जो वस्तु है ही नहीं वहाँ उसे खोजना अनाड़ीपन है।

एक बुढ़िया थी, चौराहे पर कुछ खोज रही थी, एक आदमी

ने पूछा—"बूढ़ी माँ ! क्या खोज रही हो ?"

बुढ़िया ने कहा—"बेटा ! सूई खोज रही हूँ।"

आदमी ने कहा—"चौराहे पर सुई कहाँ से आई ?"

बुढ़िया ने कहा—"कल रात्रि में मेरे घर के आंगन में सूई खो गयी थी। सो खोई हुई को खोजती हूँ।"

उस आदमी ने हँसकर कहा—"माँ घर के आंगन में खोई सुई को चौराहे पर खोज रही हो, बड़ी उलटी बात कर रही हो। उसे जाकर घर के आंगन में ही खोजो।"

वास्तव में देखा जाय, तो वह बुढ़िया ही उलटी बात नही कर रही है, हम सब उलटी बात कर रहे हैं। जो शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श हमें बन्धन में डालते हैं, संसार बन्धन के-प्रशान्ति के--मूल कारण हैं, हम उन्हीं में शान्ति खोज रहें हैं। शान्ति तो श्याम सुन्दर के चरणारविन्दों में है, हम जितने ही विषयासक्त हैं, उतने ही जाते शान्ति से दूर हटते जाते है। किसी प्रकार प्रभुपादारविन्दों में अनुराग हो जाय, तो संसार के सभी विषय, संसारी सभी मान प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति फीकी दिखायी देने लगे, किन्तु भगवत पादारविन्दों में प्रेम होता नहीं। जब तक प्रेम न होगा यह भटकन न समाप्त होगी। जीव नाना कारणों से इधर-उधर भटकता ही रहेगा। तो अब भटकने की ही थोड़ी सी बटु कहानी सुनिये।

हाँ तो अनशन के पहिले तीर्थयात्रा करने का निश्चय हुआ। अनशन आरम्भ होना था गोपाष्टमी से हमने यात्रा आरम्भ की भाद्र की अनन्त चतुर्दशी के लगभग। सोचा यह था--दो महीने में जितने तीर्थों की यात्रा हो सकेगी, उतनी कर लेंगे। गोपाष्टमी से एक या दो दिन पूर्व आकर अनशन पर बैठ जायेंगे। इसके पूर्व आन्दोलन की तैयारियाँ होने लगी, एक बड़ा प्रदर्शन सनातन

धर्म सभा के माध्यम से हुआ। पूर्ण सफल रहा। बहुत से बन्धुओं ने हमारे साथ अनशन करने की इच्छा प्रकट की। उन सबके नाम प्रकाशित हुए। प्रश्न यह था, कि अनशन किया कहाँ जाय? सबकी एक स्वर से सम्मति थी, कि भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में अनशन हो। लोगों की तर्क यह थी, कि आन्दोलन केन्द्र में हो रहा है, अतः यहाँ अनशन होने से केन्द्रीय सरकार पर विशेष दबाव पड़ेगा, राजधानी के कार्यों का समाचार पत्रों में प्रकाशन भी अधिकता से होगा, इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी है। सबकी सम्मति थी जो भी कुछ हो दिल्ली में ही हो, किन्तु मैं इससे सहमत नहीं था। मैने कहा—"मैं न तो किसी पर दबाव डालने को अनशन कर रहा हूँ, और न मुझे प्रकाशन की चिन्ता है। मै तो अपने श्याम सुन्दर गोपाल के सम्मुख अनशन करूँगा। गोपाल की क्रीड़ा भूमि रासस्थली वृन्दावन में करूँगा। वृन्दावन नगर में भी नहीं। घोर वन में राधारानी के पावन क्षेत्र में। जहाँ कृष्ण से रूठ कर--मान करके--मान सरोवर के निकट रूठी हुई राधारानी अभी तक बैठी हैं, वही उसी गोलोक में जहाँ मनुष्य कठिनता से पहुँच सके, वही करूँगा। मैं गोलोक को छोड कर दूसरे किसी स्थान पर अनशन नहीं करूँगा। फिर चाहे प्रचार हो या न हो, किसी पर दबाव पड़े या न पड़े।" अतः मेरा तो गोलोक में अनशन का निश्चय हो गया। अब बहुत ही संक्षेप में गोलोक का परिचय पाठको को करा दूँ, जिससे पूरी स्थिति समझ में आ जाय।

जहाँ आज कल वृन्दावन नाम का नगर मथुराजी से ६ मील दूर बसा हुआ है, उसके उस पार मथुरा जिले की माट नाम की तहसील है। माट के चोर आज से नही। ५०० वर्ष से बहुत प्रसिद्ध है। एक सुप्रसिद्ध कथा है कि मदन मोहन जी

के मन्दिर के ऊपर सुवर्ण का एक बड़ा भारी कलश था, किसी ने कहा—असली चोर हम उसे जानें जो इस सुवर्ण कलश को उतार लावे। मन्दिर के चारों ओर रात्रि भर पहरा रहता था। माटका एक चोर गया। रात्रि में जो घंटा बजते हैं, उन घन्टों की ध्वनि के साथ वह मन्दिर में लोहे की कीलें गाड़ते-गाड़ते ऊपर पहुँच गया। तभी तक पहरे वालों को पता, चल गया, चोर कलश लेने ऊपर पहुँच गया है, लोग इक्ट्ठे हो गये। चोर सुवर्ण कलश लेकर श्रावण भादों की भरी हुई यमुनाजी में ऊपर से ही कूद पड़ा और कलश को लेकर पार हो गया। यह आज से ४००।५०० वर्ष पुरानी बात है, वह लाल पत्थर का मन्दिर बिना कलश के ज्यों का त्यों ही अभी तक खड़ा है, और उस चोर की बहादुरी का बखान कर रहा है, इसीलिये ब्रज के रसिक भक्तों ने गाया—

"धनि-धनि मांट गांव के चोर।"

उस मांट गांव से लगभग २-२॥ मील, वृन्दावन से लगभग एक डेढ़ मील गोलोक है। जहाँ आज गोलोक है, वहाँ किसी काल में बड़ा ही घोर सघन वन था। मुसलमानी बादशाही के समय में बड़े-बड़े अधिकारी यहाँ शेर चीते का शिकार खेलने आते थे। राधारानी जी का मन्दिर है, मानसरोवर है। महाप्रभु हित हरि वंशजी द्वारा सेव्य मानवती राधाजी का यहाँ छोटा सा-मन्दिर है। महाप्रभु हितहरिवंशजी की यह भजन स्थली है। परम रसिक हरिदासजी महाराज भी यहाँ कुछ काल रहे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहाँ श्रीमद्भागवत का सप्ताह किया था। महाप्रभु जी की बैठक अभी तक विद्यमान है। लोग ऐसा कहते हैं, कि पहिले यमुना जी राधारानी से उधर ही थी। राधारानी मन्दिर इसी

पार था। अब यमुनाजी बढ़ते-बढ़ते इधर आ गयी हैं, राधारानी का मन्दिर उस पार हो गया। अभी तक राधारानी से मील भर दूरी पर यमुनाजी के कगार विद्यमान हैं। राधारानी क्षेत्र यमुना जी के वक्ष-स्थल में है। जहाँ आज गोलोक बना है, वही रास क्रीड़ास्थल है। वहीं श्रीकृष्णचन्द्रजी ने बाँसुरी बजाकर सखियों को बुलाया था। वहीं से राधाजी रास में से रूठकर मान करके मानसरोवर पर जा बैठी।

आज से २०-२२ वर्ष पहिले तक यहाँ हींस, करील और छौंकराओं के वृक्षों का सघन बन था। दिन में भी कोई अकेला आदमी वहाँ नहीं जाता। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को राधारानी का मेला लगता तो बहुत से लोग मिलकर पगडंडियों से जाते। वृन्दावन से माट वाली सड़क तो अभी ५-६ वर्ष पूर्व मेरे सामने बनी है। पीपों का पुल तो उसी वर्ष से चालू हुआ है जिस वर्ष गोलोक में डेढ़ दो महीने का पुलिनवास मेला लगा था। २०-२१ वर्ष पूर्व ही जहाँ गोलोक है उस सघन वन में लगभग ५००-६०० जंगली गौएँ और लगभग दो-ढाई हजार जंगली सूअर रहा करते थे। जंगली गौएँ बन गायें नहीं था। जिन पर गौएँ चरती नहीं थी, वे अपनी गौओं को छोड़ आते थे। सर्वथा स्वतन्त्र रहने से वे जंगली हो गयी थीं। उनके बड़े सुन्दर-सुन्दर बच्चे होते उन्हें पानी गांव या आस-पास के गांव के लोग किसी प्रकार चोरी छिपे पकड़ ले जाते। गौएं स्वच्छन्द घूमती रहती। वर्षा में यमुनाजी का जल भर जाता था। गौएँ सूअर कैसे भी दिन काटते। अंगरेज लोग भी यहाँ सूअर का शिकार खेलने आते। ऐसा था गोलोक बनने से पूर्व का यह बन। सदा से इस बन में छुट्टल–स्वतन्त्र–गौएँ ही निवास करती।

अंगरेज सरकार की "अधिक अन्न उपजाओ" नामक योजना

चली । उस योजना की वक्रदृष्टि इस गौओं के वन पर भी पडी । सरकार ने जंगली गौओं को पकड़वाना चाहा । राजस्थान के गौ पालने वाले लाल पगडी वाले ग्वाले ऊँटों पर चढ़कर गौओं को पकड़ने आये । उन्होंने ऊँटों पर चढ़कर गौओं का पीछा किया, कुछ गौएं मर गई किन्तु वे वश में नहीं आई । तब कुछ ग्वाले अपनी ४००-५०० गौएं लेकर कार्तिक महीने में जब यमुना जी घट गयीं तब यहाँ आकर रहने लगे । वे अपनी गौओं को चराकर यहीं लाकर बैठाते । धीरे-धीरे जंगली गौएं उन गौओं मे हिल-मिल गयीं । उनके साथ चरने भी जाने लगी । साथ-साथ उठने बैठने खाने लगीं । शनैः-शनैः उन ग्वालों ने गौओं के गलों में रस्सी डालना आरम्भ कर दिया । ६ महीने में जंगली गौएं हिल-मिल गयी । अपनी गौएं के साथ वे इन सबको भी राजस्थान ले गये । इस प्रकार यह वन गौएं से तो खाली हो गया । अब रह गये जंगली सूअर । इसके लिये सरकार ने कंजरा जाति वालों को बुलाया जो सेह आदि को भी मार लेते है । उन्होंने शनैः-शनैः सभी जङ्गली सूअरों को मार डाला । फिर इस वन के वृक्ष काटे गये । माट के पास ही एक राया गाँव है । राया के विधायक चौधरी जी ने एक बड़ा कृषि संघ खोला । उसके द्वारा इस भूमि को जोतने बोने योग्य बना दिया । वह कृषि संघ घाटे के कारण अस्त-व्यस्त हो गया । सरकार से भी बहुत-सा ऋण लिया था । सरकार ने कौड़ी के दामों में उस भूमि को नीलाम कर दिया । लोगों ने १०-१०, २०-२० एकड़ जमीने नीलाम में खरीद ली । यह सब कांड स्वराज्य हो जाने के पश्चात् हुआ ।

इसके पश्चात् वंशीवट पर हमारा वंशीवट विहारी गिरिधारी जी का मन्दिर बना । पहिले वह राजा अवागढ़ की कुञ्ज थी उसे ही हमने खरीद लिया । उसकी संकीर्तन भवन धार्मिक

न्यास (ट्रस्ट) बना। तभी एक वर्ष का गोव्रत हुआ। हम प्रातःकाल गौओं को लेकर यमुना जी को पार करके उस पार गौओं को चराने ले जाते। सायंकाल लौटकर वंशीवट के आश्रम में आ जाते। पहिले वृन्दावन भर की सहस्रों गैयाँ उसी पार चरने को जाया करती थीं, तब तक उस पार विशेष खेती आदि नहीं होती थी, सब गोचर भूमि ही थी। जब वह क्षेत्र पानी से परिपूर्ण हो जाता था, उतने दिनों तक तो गैयाँ उस पार जाती नहीं थीं, नहीं तो बारहो महीने गौएँ उसी पार चरने जाती थीं। आषाढ़, श्रावण में जब यमुना जी पूरी भर जाती तब सहस्रों गौएं तैरती हुई बहुत सुंदर लगती थीं तैरते हुए उनके सींग ही सींग दिखायी देते थे। ग्वाला गौओं की पूँछों को पकड़कर पार होते थे। उस दृश्य को मैं बाल्यकाल से ही देखता रहा था। हम गौओं की पूँछ पकड़ कर पार नहीं होते थे, हम तो नौका से जाते दूसरे ग्वाले हमारी गौओं को लेकर उस पार हो जाते।

उस पार हमने यमुना जी के किनारे एक शीशम के वृक्ष के नीचे, यमुनाजी ढाह को खोदकर एक झोंपड़ी डाल रखी थी। उसके चारों ओर सुंदर चबूतरा बना रखा था, उसे गौ के गोबर से लीप पोतकर स्वच्छ रखते। हम वहीं बैठे रहते। गौएं आस-पास चरती रहतीं। वहीं पर छाक लेकर आश्रम से कला, उर्मिला तथा अन्यान्य मातायें मट्ठा लेकर दोपहर के समय आतीं। सभी गोपाल साथ बैठकर भोजन करते, बहुत से दर्शनार्थी कौतूहलवश आ जाते कि देखें ब्रह्मचारी जी गौएं कैसे चराते हैं। हम लोग टाट ही पहिनते, टाट ही ओढ़ते, टाट ही बिछाते थे। गौओं के बीच में ही रात्रि में सोते थे। जीवन गौमय बन गया था। जहाँ उस पार हमारी बैठक झोंपड़ी चबूतरा था, वहाँ बहुत से भंडारे भी होते। १० - २० आदमियों की पांत तो प्रायः नित्य ही होती।

कभी-कभी रासमण्डली आकर रास करती। गोचारण का वर्ष भर उत्सव ही था।

उसी समय समीप की कुछ भूमि को अपने आश्रम की ओर से क्रय करने की बात चली। १० एकड़ भूमि क्रय करके उसमें गोधाम बनाया। गोधाम के समीप ही एक ४० एकड़ का फार्म था, राये के लाला वसन्तलाल जी ने वह फार्म बनाया था। चारों ओर तारों से घिरा था पानी की मशीन (ट्यूबेल) लगा था। कुछ दिन तक उसमें गेहूँ हुए, ईख हुई, अमरूदों का बगीचा लगा। पीछे घाटा लग जाने से कई वर्ष से वह वैसे ही वीरान पड़ा था। उसमें एक छोटी-सी पक्की कुटिया भी थी। इतने भारी कछार भर में वही एक पक्की कुटिया थी। पीछे से उसे भी क्रय कर लिया गया। उसकी चहारदीवारी बनायी, पक्के मकान बनाये। बड़े-बड़े कमरे शौचालय, स्नानघर, मशीनें बैठायी और उसी सबका नाम 'गोलोक' रखा गया। पुलिनवास मेले के समय तो 'गोलोक' देश भर में विख्यात हो गया। उस समय उसमें दूरभाष (टेलीफोन) तार, डाकघर, पुलिस थाना सब कुछ बन गया था। वृन्दावन से यहाँ तक बिजली लग गयी थी। पीपों का पुल भी उसी वर्ष से चालू हो गया था देश के प्रायः सभी प्रान्तों के सहस्रों भक्त वहाँ रहते थे। ६ स्थान पर श्रीराधा जी की, ललिता, विशाखा आदि अष्ट सखियों के नाम से अष्टनिकुञ्ज और एक श्रीराधा के नाम की नवमी कुञ्ज इस प्रकार नवनिकुञ्ज बनी थीं। उन सबमें चौबीसों घंटे पृथक्-पृथक् अखंड कीर्तन होता था। वह दृश्य अपूर्व था, अलौकिक था सभी प्रान्त के भक्त अपनी-अपनी ध्वनियों से चौबीसों घंटे ध्वनिवर्धक (लाउड-स्पीकर) लगाकर कीर्तन करते रहते थे। आन्ध्रप्रदेश से ही लग-भग २०० - २५० भक्त आये थे। नेपाल से ४००।५०० विहार से

१५० - २०० । इसी प्रकार बंगाल, आसाम, राजस्थान आदि से भक्तगण पधारे थे। फूँस का एक बड़ा भारी पंडाल बनाया गया था, जिसमें ८-१० हजार दर्शनार्थी बैठ सकें। उसमें भी प्रातः-काल से रात्रि के एक दो बजे तक कार्यक्रम चलते रहते थे। देश भर के प्रायः सभी बड़े-बड़े महात्मा उसमें पधारे। भिन्न-भिन्न विषयों के प्रायः २२। २४ सम्मेलन हुए। उस दृश्य को तो जिसने देखा होगा वही उसका अनुमान लगा सकता है। १०८ पाठकों द्वारा नौ दिन तक रामचरित मानस का नवाह, १०८ पंडितों द्वारा १०८ श्रीमद्भागवत के सप्ताह, १०८ व्यासों द्वारा १०८ से भी बहुत अधिक "भागवतचरित के सप्ताह, गोपालयज्ञ आदि अनेकों कार्यक्रम हुए। लगभग दो महीनों तक मथुरा के श्री गगेजी चतुर्वेदी द्वारा "भागवतचरित" के द्वारा श्रीकृष्णलीला हुई। उस आनन्द का वर्णन लेखनी के बाहर की बात है।

उस विशाल पण्डाल के सम्मुख ही मेरी कच्ची मिट्टी की बनी कुटिया थी। उसके चारों ओर फूँस की टटिआओं का बड़ा बाड़ा था, चारों कोनों पर चार गोल फूंस की कुटियायें थी। बैठने को बड़ा भारी छप्पर का उसारा था, वह सदा गोबर से लीप पोतकर स्वच्छ रखी जाती थी। उसी में मैं रहता था। भीड़ का कोई ठिकाना ही नहीं था। हजारों लाखों नर-नारियों की भीड़ बनी रहती।

पुलिनवास मेला समाप्त हो गया। चैत्र में-श्रावण भादों में यमुना जी की बाढ़ आई पूरा गोलोक स्थान राधारानी तक जल-मय हो गया। जिधर देखो उधर जल, कहीं पता ही नहीं कहाँ नेपाली कुञ्ज थी, कहाँ आंध्र वाली कुञ्ज, कहाँ आसाम तथा बङ्गाल की कुञ्ज। सब स्थान जलमय। हमारी कुटिया का नाम निशान नहीं रहा। यह है अत्यन्त संक्षेप में गोलोक का परिचय।

हाँ तो इसी गोलोक में मुझे अनशन करना था। बाढ़ तो आई उतर गयी। बढ़ी हुई यमुना अपनी सरदी और नयी मिट्टी छोड़कर चली गयी वह नयी मिट्टी खाद का काम देती है। उससे फसल दुगुनी तैयार होती है। वैसे दश मन अन्न हो तो बाढ़ आने पर बीस मन। गोलोक में बाढ़ प्रति वर्ष नहीं आती। जैसी बाढ़ उस वर्ष आई वैसी ४० वर्ष पहिले कभी आई थी। थोडा बहुत पानी तो प्रतिवर्ष ही प्राय: आ जाता है, किन्तु २-४ दिन रहकर उतर जाता है, किसी वर्ष गोलोक तक पानी आता ही नहीं। अनशन के वर्ष सबसे बड़ी बाढ़ आई और प्राय: एक महीने तक गोलोक के सभी भवन जल-मग्न रहे। वहाँ की गौएं तथा अन्य पशु दूसरे स्थान में भेज दिये गये। जिस समय हमारी तीर्थयात्रा रेलगाड़ी चलने वाली थी, गोलोक जलमय था। मेरी कच्ची कुटिया धराशायी होकर अदृश्य हो गयी थी। भूमिसात् बन गयी थी। मुझे आशा थी बाढ़ १०। २० दिन में उतर जायगी। कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी तक गोलोक निवास योग्य बन जायगा। मैं अपने आदमियों से कह गया था, जैसे ही बाढ़ का पानी उतर जाय, तैसे ही मिट्टी के गारे की जैसी पहिले कुटी बनी थी वैसी ही कुटी बना देना। उसके चारों ओर की दीवालें तो गीली मिट्टी से बनायी जाती हैं। ऊपर फूंस के छप्पर से छाई जाती है, एक छोटी कुटिया, उसके सामने एक छोटा-सा बरामदा चारों ओर फूंस की बाढ़। यही उस कुटिया का स्वरूप था।

गोग्रन के समय मेरा सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया था तथा अत्यन्त ही कृश हो गया था। उसी निर्बलता में १४ कोश की गिरिराज गोवर्धन की परिक्रमा की। हजारों आदमी साथ थे, वहाँ गोवर्धन पर अन्नकूट का जो वृहद्भोज हुआ, वह अनुपम था,

उस दृश्य को बिना देखे कोई उसका अनुमान भी नहीं कर सकता। हमारे श्री देवरहाबाबा जी पुलिनवास मेले में मञ्च पर बराबर रहे और वहाँ गोवर्धन के अन्नकूट में भी पधारे। उस समय जोश में, निर्बलता में पैदल परिक्रमा कर तो ली, किन्तु उससे वायु विकृत हो गयी। हाथ पैरों में छुंछुनवात हो गयी। हाथ की तो ठीक हो गयी। पैर को अभी तक ठीक नहीं हुई, किन्तु उसकी कुछ भी परवाह न करके हम अनन्तचतुर्दशी के लगभग दिल्ली से तीर्थयात्रा के लिये चल दिये।

वह तीर्थयात्रा रेल अपने ढंग की निराली थी। देश में उसके कारण कितनी हलचल हुई कैसा-कैसा प्रत्येक स्टेशन पर उसका स्वागत हुआ यह तो एक पृथक् विषय है, इसका वर्णन एक लेख में नहीं कोई यात्री इस पर एक पूरी पुस्तक लिखे तभी उसका दिग्दर्शन हो सकता है। स्थान-स्थान पर सभायें हुईं, प्रत्येक स्टेशनो पर अभूतपूर्व स्वागत हुआ। इस कार्य में हमारे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयं सेवको ने अपूर्व उत्साह दिखाया हमारे उत्तरप्रदेश के प्रमुख प्रान्त प्रचारक रज्जूभैया ने जो परिश्रम किया वह तो अवर्णनीय है। वे स्वयं एक साधारण दर्शक की भाँति भीड़ में दिखायी देते थे, जैसे पूरे नाटक की योजना करके, उसके पात्रों के अभिनय बाटकर स्वयं आकर साधारण दर्शको की पंक्ति में बैठकर नाटक को देखता, यही कार्य रज्जूभैया ने किया। लखनऊ का वह भव्य भरा मञ्च, प्रयाग की शोभायात्रा का वह दशहरे जैसा दृश्य, कानपुर के फूलबाग का वह अविस्मरणीय समारोह और फिर वाराणसी की शोभायात्रा और टाउन हाल की सभा ने तो सभी को मात कर दिया। कितने लाख नर-नारी इसमें सम्मिलित हुए कुछ कहने की बात नहीं। ८०। ८०। ६०। ६० वर्ष के बूढ़ों के मुख से सुना गया है, कि

हमने अपने जीवन में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा। उस समय के वृत्त पत्रों में ये सब समाचार प्रकट हो चुके हैं कोई यात्री लेखक इसका सविस्तार कभी वर्णन करेंगे, हमें तो अपने विषय पर आ जाना चाहिये।

हाँ तो देहली, हरिद्वार, ऋषिकेश, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर, काशी, वैधनाथ, कलकत्ता, कटक, भुवनेश्वर, पुरी, वालटेयर, सिंहाचलम्, राजमहेन्द्री, वैजवाड़ा मदरास, चिदवरम्. कांची, कुंभकोणम्, मदुरा, रामेश्वर आदि होते हुए पुन: मदरास लौट आये। मैं तो रेल मे बहुत ही कम बैठा, स्वयसेवक बन्धु मुझे तो मोटरों द्वारा न जाने कहां-कहां ले जाते और फिर १०० २००।५०० मील पर चलकर हमारी गाड़ी से हमें मिला देते। फिर मदरास से जो रेल छोड़ी तो फिर छूट ही गयी। पूरे मदरास प्रान्तभर की यात्रा मोटरों से ही की। रेल अपने मार्ग से पथ तै कर रही थी, हम मोटरों से घूम रहे थे। श्रीरंगम् में एक दिन रेल दिखायी तो दी कुछ दूर उस पर चढे भी किन्तु श्रीरामेश्वर से लौट कर मदरास तक मोटरों में ही आये।

कार्तिक कृष्ण पक्ष में (७ नवम्बर) को एक १० लाख नर-नारियों के प्रदर्शन का निश्चय पहले ही हो चुका था। मदरास में मुझे मेरी समिति के वन्धुओं का आदेश मिला कि प्रदर्शन में मदरास से तो कम ही लोग आवेगे अधिकांश पंजाब से आवेंगे। अत: ७ दिन में पूरे पंजाब के दौरे का कार्यक्रम बनाया है आप तुरन्त वायुयान से पंजाब के दौरे के लिये आ जाओ। जिस दिन आदेश मिला उसी दिन चलना था· वायुयान में ३ स्थान पहले से ही निश्चित करा लिये थे। वायुयान दापहर के पश्चात् चलने वाला था। मदरास प्रांत के मेरे प्रथप्रदर्शक प्रवंधक साथी राम स्वामी ने कहा—एक साधु एक बहुत वड़ी भूमि गौओं के निमित्त

दे रहे हैं, आप उसे चलकर देखलें। रामराज रामानुज आदि पहले चलकर वायुयान में अपना सामान रखकर स्थान ग्रहण कर लें। वायुयान में छूटने की देरी नहीं थी, किन्तु भूमि के लोभ से मैंने इसे स्वीकार कर लिया। साथी लोग वायुयान स्थल की ओर चले गये और मैं रामस्वामी के साथ एक शीघ्र गामी मोटर में चढ़कर भूमि देखने चल दिया। गाड़ी पूरी वेग से दौड़ रही थी। आगे रेल के फाटक के पास न जाने किससे मोटर इतने वेग से टकराई की उसका इन्जन चकनाचूर हो गया। चालक क्षत विक्षत होकर रक्त से सना हुआ मोटर से लुढ़क पड़ा। रामस्वामी भी रक्त से नहा गये। मैं सबसे पीछे अकेला था। दोनों ओर से मोटर में भिज गया छाती में बड़े वेग से धक्का लगा। माथे में थोड़ी चोट आयी।

किन्तु स्वयं सेवक की कर्तव्य परायणता तो देखिये रक्त में सने रामस्वामी ने कहा—महाराज! आप किसी प्रकार वायुयान को पकड़ें। कोई मोटर हो तो उससे चले जायं, यह कहकर वह बेहोश हो गया। मेरी इच्छा तो नहीं थी, अपने साथी को इस दशा में छोड़कर जाऊँ; किन्तु एक तो स्वयं सेवक की आज्ञा, दूसरे पंजाब का कार्यक्रम। लोग कितनी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते होंगे, मैंने अपने दोनों साथियों को उसी दशा में छोड़कर जाने का निश्चय किया। दुर्घटना के कारण दर्शकों की भीड़ लग गयी। कई मोटरें भी खड़ी हो गयी। एक मोटर वाले ने मुझे पहुँचाना स्वीकार किया। आँखों में आंसू भरकर राम स्वामी को देखता हुआ मैं मोटर में बैठ गया। उस मोटर वाले राजकीय अधिकारी को किसी आवश्यक कार्य से जाना था। वह मुझे एक टैक्सी में बिठाकर चला गया। टैक्सी ने मुझे वायुयान-स्थल पर पहुँचा दिया। मेरे साथी अत्यन्त ही

उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वायुयान के छूटने का समय समाप्त हो चुका था, मेरे पहुँचते ही हड़बड़ाहट के साथ रामानुज ने कहा—"यदि १५।२० मिनट वायुयान लेट न होता तो आज न मिलता। दौड़कर ज्योंही वायुयान में बैठे, त्यों हो वह सीटी देकर उड़ गया। अब मुझे अपनी छाती की चोट की याद आई। छाती को साफी से कसकर बाँध दिया। २।२।। घंटे में वायुयान देहली पहुँच गया। ७ ता० का प्रदर्शन था। ८ को हमारा कार्यक्रम पढरपुर में था, अतः ७ ता० के शाम के वायुयान से स्थान अतिरिक्त कराया टिकटें ली और जयदयाल जी डालमिया के यहाँ पहुँचे। डालमियाजी की पत्नी किसी प्रकार चाहती नहीं थी मैं ऐसी दशा में पंजाब के दौरे पर जाऊँ। उन्होंने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने भी यही सम्मति दी ऐसी दशा में आपको जाना नहीं चाहिये, किन्तु इन सात दिनों में स्वयं सेवक बन्धुओं ने एक-एक दिन में ८-८-१०-१० स्थानों में कार्यक्रम रखे थे। समय पर न पहुँचेंगे तो लोगों में कितनी निराशा होगी। उस समय लोगों में गोरक्षा के लिये अपार जोश था, वे सब कुछ करने को उद्यत थे, हमें भी चढ़े हुए तंदूर पर चपातियाँ सेकनी थीं। तंदूर के ठंडा होने पर उसे गरम करने में बड़ी देर लगेगी। अतः मैंने कुछ नहीं कहा और मैं सो गया।

प्रातःकाल सबके मना करने पर भी मैं भगवान् का नाम लेकर मोटर में बैठ गया। दो मोटरें तैयार हुई वे सात दिन में पूरे पंजाब जम्मू तक हमें घुमाकर ६ ता० को देहली ले आवेंगी। इस निश्चय के साथ हम सब भगवान् का नाम लेकर उनका स्मरण करते हुए चल पड़े। ७ दिन में पूरे पंजाब का दौरा किया। एक-एक दिन में ८-८ १०-१० सभाओं में भाषण

करके हम देहली लौट आये। रात्रि में वृन्दावन आकर वृन्दावन विहारी का दर्शन किया ७ ता० को गोरक्षा के निमित्त महान् ऐतिहासिक प्रदर्शन था। लगभग १० लाख की भीड़ एकत्रित थी। जिधर देखो उधर गोरक्षकों की बसें मोटरें कारें खड़ी थी। उस प्रदर्शन में जो भी कुछ हुआ सभी को विदित है, अधिकारियों की योजना क्या थी इसे तो भगवान् ही जानें।

एक साधु ने बड़े उत्तेजित स्वर में आकर कहा—"यहाँ क्या बैठे हो समद भवन पर सत्याग्रह करो।" मैंने तुरन्त उनके हाथ से ध्वनिवर्धक यन्त्र छीन लिया और कहा—आज हमारा कार्य क्रम सत्याग्रह का नहीं है, केवल प्रदर्शन मात्र का है आप बैठ जायें।

उन्होंने कहा—"मुझे पांच मिनट का समय मिला है, मुझे बोलने तो दीजिये।"

मैंने कहा—"मैं समिति का अध्यक्ष हूँ मैं आपको बोलने की आज्ञा नहीं देता।" वे बैठ गये। दो भाषण और हुए और फिर हे भगवान्! पीछे से आश्रु गैस के गोले छूटने लगे।

अपने जीवन में मैंने आश्रु गैस के गोले नहीं देखे थे, माघ मेले में हमारे यहाँ सड़कों पर चूना छिड़का जाता है। मैंने समझा गन्दगी को दूर करने को चूना छिड़क रहे हैं, किन्तु वह तो जादू का चूना था। बात की बात में हमारी भरी हुई मंच पूरी खाली हो गयी। सब नीचे लुढ़क गये, भीड में भकदड़ मच गयी। गोलियाँ चलने लगीं। लोग हताहत होकर रक्त में स्नान करने लगे। एक मात्र मैं मंच पर खड़ा-खड़ा देखता का देखता ही रह गया। नीचे खड़े मेरे साथी लड़कों ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया—"महाराज जी! महाराज जी! आप कूद पड़िये वहाँ न रहिये, गोलियाँ चल रही हैं। अब मुझे होश हुआ।

मंच बहुत ऊँची थी मैं कूद पड़ा। तीन-चार लड़कों ने मुझे बीच में ही लपक लिया, और मुझे लेकर चलने लगे। आँखों में अश्रु गैस का धुआँ भरा हुआ था। लड़के भीगे कपड़े से मेरी आँखों को पोंछते जाते थे और भीड़ में मुझे लिये जा रहे थे। आगे एक पानी पिलाने वाली मोटर मिली। उसमें हमारे परिचित थे लड़कों ने मुझे उसमें बैठा दिया और बाजार लेन में स्व० लाला सूरज नारायण जी के घर जहाँ मैं ठहरा था, पहुँचा दिया।

अध्याय तो समाप्त हो गया। इतना ही स्थान सुरक्षित था, अतः पाठक अब आगे की कहानी अगले अंक में पढ़े। अब तो भागवत दर्शन के गीता वार्ता के अगले प्रकरणों को सुनें अब तक तो यह विषय प्रवेश हुआ। अब आगे यथार्थ कहानी आवेगी।

छप्पय

देख्यो आँखि पसार जगत में सब प्रपञ्च है।
सुख जिनमें हम लखें न तिनिमें शांति रंच है॥
माया रूप बनाय विविध विधि सम्मुख आवै।
चाक चिक्य कूँ निरखि अज्ञ बन्धन बँधि जावै॥
सबहिँ शास्त्र इक स्वर कहत, तव चरननि नहिँ मृत्युभय।
चरन शरन जिनने लई, तिनिनें पायो पद अभय॥

गीता--माहात्म्य

[३]

(तृतीय अध्याय)

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥*

(महाभारत)

छप्पय

गीता को अध्याय तीसरो है अति पावन।
ज्ञान करम संन्यास योग जामें मन भावन॥
जनस्थान जड विप्र वृत्ति बनिया अपनाई।
दुष्कर्मनि धन नस्यो गयो पुनि करन कमाई॥
धन लेकें लौट्यो पथहिं, आयो एक तरुतर जबहिं।
चोरनि मारयो लोभवश, लूट ले गये धन सबहिं॥

यह जीव पूर्व जन्मों के संस्कारों के वशीभूत होकर कर्म करता रहता है, कुछ कर्म पुण्यमय होते हैं, कुछ पापमय। कुछ कर्मों के करने से संसार बन्धन होता, कुछ कर्मों से संसार ढीला होता है। कभी-कभी अनजान में हमारे द्वारा ऐसे कर्म हो जाते

* गीता सर्व शास्त्रमयी है, भगवान् हरि समस्त देवमय हैं। गङ्गा जी सर्व तीर्थमयी हैं और मनुस्मृति सर्ववेदमय है।

है, जो हमें नरक में ले जाते है, और कभी अपने आप ही ऐसे पुण्यप्रद कर्म हो जाते हैं, जो हमें स्वर्ग तथा वैकुंठ तक ले जाते है। कौन सा कर्म शुभ है, कौन सा अशुभ इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान चकरा जाते हैं। बहुत से कर्मों का तो तब पता चलता है जब उनका फल प्रत्यक्ष होता है। पुराणों में ऐसे सहस्रों आख्यान है, कि अनजान में ऐसे-ऐसे कार्य हो गये हैं, जो परम पुण्यप्रद थे। और मनुष्य से वे कर्म बिना इच्छा के स्वत: ही हो गये थे। कोई चुहिया थी, शिवजी के मन्दिर में जलते हुए दीप की बत्ती खाने बैठी थी, कि दीपक बुझने ही वाला था, ज्यों ही चुहिया उसे खाने को लपकी त्यों ही एक बिल्ली आ गयी। बिल्ली को देखकर चुहिया शीघ्रता से भागी। शीघ्रता में भागने से दीपक की बत्ती ऊँची हो गयी। दीपक शीघ्र ही बुझने वाला था, किन्तु बत्ती उँची होने से कुछ देर और भी जलती रही। इसी पुण्य से वह चुहिया अगले जन्म में एक बड़े भागी राजा को रानी हुई। उसे पूर्व जन्म की याद थी, इसलिए वह सदा मन्दिरों में सहस्रों दीपक जलवाया करती थी। राजा ने जब उससे इतने दीपक सदा जलवाने का कारण पूछा तो उसने अपने पूर्व जन्म का यह वृत्त बताया। चुहिया ने जान बूझ कर यह सुकृत नहीं किया था। उससे अकस्मात् ऐसा शुभ कार्य बन गया।

एक आदमी पान खाया करता था। पान में चूना लगाकर बचे हुये चूने को उसने मन्दिर में पोंछ दिया। इसी पुण्य से उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, क्योंकि मन्दिर का कुछ भाग उसने चूने से रंग दिया था। यह चूना लगाने का पुण्य उससे अकस्मात् हो गया।

एक प्यासा कौआ पानी की तलाश में इधर-उधर घूम रहा

था, एक मन्दिर में चरणामृत रखा था। पुजारी वहाँ था नहीं कौआ जल समझ कर उसे पी गया। इससे वह स्वर्ग गया। बिना जाने ही उससे यह अकाल मृत्युहर सर्वव्याधि विनाशक विष्णु चरणामृत पीने का पुण्य मिल गया।

एक पक्षी मन्दिर पर बैठा था, उतने में ही एक बाज उसकी ओर झपटा। बाज से बचने के लिये उसने तीन बार मन्दिर के चक्कर लगाये। अन्त में बाज ने उसे मार डाला। वह स्वर्ग गया। अनजान में उसे भगवत् मन्दिर की परिक्रमा करने का पुण्य मिल गया। इस प्रकार की असंख्यों कथायें भिन्न-भिन्न पुराणों में भरी पड़ी हैं। आधुनिक विचार के लोग इन्हें गप्प समझेंगे। वे भले ही गप्प समझते रहें। जो सुकृत कर्म है पुण्य प्रद कार्य हैं, वे जान में अनजान में कैसे भी हो जायें अच्छा ही फल देंगे।

स्कन्द पुराण में प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र परम दानी दैत्यराज बलि की पूर्व जन्म की एक कथा आती है। ये पूर्वजन्म में एक बड़े भारी जुआड़ी थे। जुआड़ी से कोई पाप कर्म बचा नहीं रहता, वह धन के लिये चोरी व्यभिचार, हत्या, हरण सब कुछ करता है। इस जुआड़ी का किसी परम सुन्दरी वेश्या से सम्बन्ध था। वेश्यायें तो धन की भूखी होती हैं। जो धन दे, उसकी प्यारी जो धन न दे सके उसकी ख्वारी। उसे वे मार कर भगा देती हैं। इस जुआड़ी पर भी धन नहीं था। वह वेश्या इससे स्नेह नहीं करती थी। एक दिन इसे जुआ में बहुत सा धन मिला। तब यह बड़ी प्रसन्नता से उस वेश्या को रिझाने के लिये उसके घर की ओर चला। उसे देने को सुन्दर इत्र बहुमूल्य पुष्प हार तथा पान का स्वस्तिकाकार बीड़ा बनाकर ले चला। हर्ष में भरा शीघ्रता पूर्वक जा रहा था। मार्ग में किसी वस्तु में ठोकर खाने

से उसके पैर लड़खड़ाये, वह गिर पड़ा बेहोश हो गया, किन्तु हाथ की वस्तुएं गिरी नहीं। कुछ देर में उसे उसकी मुर्छा भंग हुई। उसे अपने दुष्कर्मों पर परम पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा—एक अधम वेश्या को रिझाने को मैं यह क्या कर रहा हूँ। देव की गति तो देखिये जहाँ वह गिरा था-वहीं एक शिव मन्दिर था, वह उठा और उसने अपनी समस्त वेश्या के निमित्त लायी हुई सामग्री शिवलिंग पर चढा दी। कुछ दिन पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। यमदूत उसे पकड़ कर यमराज के पास ले गये। यमराज जी ने अपने मुनीम जी चित्रगुप्त जी से उसके पाप पुण्य का लेखा जोखा पूछा। चित्रगुप्तजी ने अपनी बही में सब उसके पुण्य पाप देखकर यमराज से कहा—धर्मराज! इसने तो जीवन भर पाप ही पाप किये हैं, इसे तो घोर नरकों में डालना चाहिये।

यमराज ने कहा—"फिर से देख लो,कोई पुण्य कर्म भी इससे हुआ है या नही?"

चित्रगुप्त जी ने कहा—मरने से कुछ समय पूर्व इसने कुछ गन्ध, पुष्पों का हार पान का बीड़ा शिवजी पर चढ़ाया है। यही इससे एक महान पुण्य बना है।

यमराज ने उस जुआड़ी से पूछा—तुम पहिले अपना पुण्य भोगोगे या पाप?

उसने कहा—"महाराज, जीवन भर मैंने पाप तो किये ही हैं। पापों का फल तो मुझे भोगना ही है। यदि मेरा कोई पुण्य हो, तो पहिले मैं उस पुण्य का ही फल भोगना चाहता हूँ।

पुण्य साधारण नहीं था, अतः उसे तीन घड़ी के लिये इन्द्र बना दिया गया। तीन घड़ी के लिये वृहस्पति जी की सम्मति से इन्द्र अपने इन्द्रासन से हट गये। स्वर्ग का शासन तीन घड़ी के

लिये इनके अधिकार में आ गया। इसने सोचा—"ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता है। इतनी भारी सत्ता हाथ में आई है, क्यों न मैं इस समय का और इस इतनी बड़ी स्वर्गीय सम्पत्ति का सदुपयोग कर लूं। 'कर ले सो काम भज ले सो राम' तीन घड़ी पश्चात् तो ये सब सामग्रियां छूट ही जायंगी। दान पुण्य करके मैं इसका सदुपयोग कर लूं तो अच्छा है। यह सोचकर तुरन्त उसने सभी ऋषि महर्षियों को बुला भेजा। तुरन्त स्थानापन्न इन्द्र की आज्ञा से ऋषि मुनि आ गये। अब उसने दोनों हाथों से लुटाना आरम्भ कर दिया। स्वर्ग की जो वस्तु सामने आती उसी को किसी महर्षि को तुरन्त दे डालता। ऐरावत हाथी को अगस्त्य जी को दान कर दिया। इसी प्रकार उच्चैःश्रवा घोड़ा को विश्वामित्र जी को, कामधेनु गौ को वसिष्ठ जी को, चिन्तामणि रत्न को गालव जी को, कल्पवृक्ष को कौण्डिन्य मुनि को तथा जो भी बहुमूल्य वस्तु सामने आई सभी को सभी महर्षियों में बांट दिया। दान पुण्य करते-करते ही तीन घड़ी का समय व्यतीत हो गया। वह चला गया। इन्द्र ने अपनी सम्पत्ति हीन पुरी को देखा। वृहस्पति जी की सम्पत्ति से ऋषियों को द्रव्य दे देकर वे सब सामग्रियां फिर उन्होंने क्रय कर लीं।

स्वर्ग में भी दान देने से उसका पुण्य अक्षय हो गया, अब वह जुआड़ी बिना नरकों की यातना भोगे महादानी असुरेन्द्र महाराज बलि हो गया। जिसके द्वार पर वामन बनकर भगवान् विष्णु ने भी भीख माँगी। यह सब दैव विपाक से अकस्मात् ही सब कुछ हो गया। ऐसी ही कथा श्री मद्भगवत् गीता के तृतीय अध्याय के महात्म्य की है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने आपको श्रीमद्भगवत्गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुनाया।

अब जिस प्रकार पार्वती जी के पूछने पर शिव जी ने, लक्ष्मी जी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने तीसरे अध्याय का माहात्म्य कहा, उसे अब मैं आप के सुनाता हूँ। पार्वती जी के पूछने पर शिवजी कहने लगे—"देवि! प्राचीन काल में दक्षिण देश के जनस्थान में जड नाम का ब्राह्मण रहता था। वह केवल नाम का ही ब्राह्मण था, कर्म उसके म्लेच्छों के समान थे। ब्राह्मणों का सा उसका कोई भी आचरण नही था। उसने ब्रह्मवृत्ति त्यागकर व्यापार दुकानदारी का व्यवसाय कर लिया था। वह व्यापार से जो धन कमाता उसे सुरापन, परस्त्रीगमन तथा जुआ आदि में व्यतीत करता। कालान्तर में वह धन हीन हो गया। अब उसकी कोई बात भी नही पूछता। लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं, जब तक जिससे अपना कोई स्वर्थ सधे, तब तक वह प्यारा जहाँ स्वार्थ में आघात पड़ा, तहाँ राम राम जी राम राम जी। तुम अपने घर हम अपने घर।

जब उसका अपने देश में निर्वाह नहीं हुआ तो वह उत्तर दिशा की ओर व्यापार करने चला गया। व्यापार में तो वह बहुत निपुण था ही, उसने वहाँ जाकर बहुत सा धन पैदा कर लिया। अब उस सम्पूर्ण धन को लेकर वह अपने नगर की ओर चला। आठ दश दिन तक चलते-चलते वह एक वन में पहुँचा। वहाँ उसे रात्रि हो गयी। चोरों ने जब उसके पास बहुत धन देखा, तो उसे पकड़ लिया। सब धन छीन लिया और यह जाकर किसी को बतावे नहीं इस डर से उसे मार कर वहीं आस पास गड्ढे में फेंक दिया।

अपने दुष्कर्मों के कारण वह बड़ा भारी प्रेत बनकर उस पेड़ पर रहने लगा। प्रेतों का शरीर सूक्ष्म होता है, उनका मुख सुई के छिद्र से भी छोटा होता है। भूख लगने पर वे खा नहीं

सकते। प्यास लगने पर पास में पानी होने पर भी पी नहीं सकते। वासनायें वे हो सब पुरानी बनी रहती हैं। इससे उन्हें अत्यन्त ही पीड़ा होती है। दूसरे बड़े प्रेत उसे यातनायें भी देते है इस प्रकार वह प्रेतयोनि में नाना यातनाओं को भोगता हुआ उस छोंकरे के पेट पर रहने लगा।

उस जड़ का पुत्र एक बड़ा धर्मात्मा था कभी-कभी दुष्टों के भी प्रह्लाद की भांति धर्मात्मा पुत्र हो जाते हैं। यह भी किसी पूर्व जन्म कृत सुकृत का ही फल है। उसका पुत्र सदाचारी धर्मात्मा, मातृ-पितृभक्त तथा संध्यावन्दन नित्य कर्म करने वाला था। उसने बहुत दिनों तक तो अपने पिता की प्रतीक्षा की, जब बहुत दिन व्यातीत होने पर भी वह न लौटा, तो उसने उसकी बहुत खोज की, किन्तु कुछ भी पता न चला। वह इधर-उधर खोजता हुआ फिर ही रहा था, कि उसे एक परिचित व्यक्ति मिल गया। उससे उसने अपने पिता का वृतान्त पूछा।

उसने कहा—भाई! मैंने उसे आते हुए देखा तो था, वह मेरे यहाँ ठहरा था, घर को बहुत सा धन लेकर जा रहा था। पीछे मैंने सुना चोरों ने एक धनिक को मार डाला उसका सब धन छीन लिया। हो न हो वह तुम्हारा पिता ही होगा। अब तक घर नहीं पहुँचा तो वही होगा।

अब पुत्र को पूरा विश्वास हो गया, मेरे पिता की अकाल मृत्यु हुई है, चोरों ने धन के लोभ से उनके प्राण ले लिये है उनकी अवश्य ही दुर्गति हुई होगी। चलो, काशी जी में चलकर उनके श्राद्धादि कर्म करें। यही सोचकर वह श्राद्ध की बहुत सी सामग्री लेकर काशी जी की ओर चल दिया।

संयोग संस्कार तो देखिये, चलते-चलते उसे उसी स्थान पर रात्रि हो गयी, जहाँ चोरो ने उसके पिता का सर्वस्व छीनकर मार

डाला था और वह प्रेत बनकर उसी वृक्ष पर रहता था। ब्राह्मण कुमार ने उस पेड़ के नीचे ही अपना आसन लगाया। समीप ही जलाशय था, नित्यकर्म से निवृत्त होकर वह सो गया। प्रातः-काल होने पर वह स्नानादि से निवटकर सन्ध्यावन्दन करने लगा। वह नित्य गीता के एक अध्याय का पाठ भी किया करता था। सन्ध्यावन्दन जप करने के अनन्तर उसने गीता के एक अध्याय का पाठ किया। संयोग की वात कि उस दिन पाठ के लिये उसका तृतीय अध्याय ही था। ज्योंही उसने गीताजी के तीसरे अध्याय का पाठ समाप्त किया, त्योंही उसने एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा। उस दृश्य को देखकर ब्राह्मण कुमार तो परम चकित रह गया। देखा एक परम रमणीय दिव्य विमान स्वर्ग से उतर रहा है। वह विमान उसके समीप ही आकर खड़ा हो गया। उस वृक्ष से एक प्रेत उतरा। देखते ही देखते उसका शरीर दिव्य हो गया। वह साक्षात् देवस्वरूप बन-कर विमान में आकर विराजमान हो गया। विमान में बैठते ही उसने कहा—"वेटा! तुम धन्य हो तुमने मेरा उद्धार कर दिया।"

ब्राह्मण कुमार ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा—"महाभाग! आप कौन हैं?"

उस दिव्य पुरुष ने कहा—"वेटा! मैं तुम्हारा अभागी पिता ही हूँ। मैं व्यापार से प्राप्त वहुत-सा धन लेकर आ रहा था, यहाँ चारों ने मुझे मारकर मेरा सब धन छीन लिया। अकाल मृत्यु होने से तथा पाप कर्मों के कारण, मैं चिरकाल से प्रेतयोनि में रहकर नाना यातनाओं को भाग रहा था। तुमने श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय को सुनाकर मेरा उद्धार कर दिया। धन्य है गीता माता और धन्य है उसका तीसरा अध्याय जो पापियों को

भी श्रवणमात्र से पावन बना देता है। वेटा ! जैसे पाप मैंने किये है, वैसे ही मेरे बड़े भाई ने भी किये हैं, मेरे परिवार वालों की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। वे सब नरक में पड़े हुए नाना यातनाओं को भोग रहें हैं। उन सवका भी तुमको उद्धार करना चाहिये। अब तुम्हें काशी आदि जाने की आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय से तुमने मेरा तो उद्धार कर ही दिया, अब अपने दूसरे वन्धुवान्धवों का भी इसी से उद्धार करो।"

ऐसा कहकर वह दिव्यरूपधारी व्यक्ति विमान में बैठकर दिव्यलोकों में चला गया। इधर यह ब्राह्मण पुत्र भी प्रसन्नता पूर्वक अपने नगर में लौट आया। अब इसे तीसरे अध्याय के महत्त्व का बोध हुआ। अब उसने एक भगवान् के मन्दिर मे बैठ कर श्रद्धापूर्वक तीसरे ही अध्याय का पाठ आरम्भ कर दिया।

मेरे परिवार के सभी लोगों का नरक से उद्धार हो, इस सकल्प से वह नित्य नियम से गीता के केवल तीसरे ही अध्याय का पाठ किया करता था। उसके पाठ के प्रभाव से उसके कुल के जितने भी लोग नरक में पड़े हुए थे, उन सवका उद्धार हो गया। वे सब दिव्य शरीर धारण करके विष्णु पार्षदों के कहने पर यमराज के कारागार से मुक्त होकर, दिव्य विमानों पर बैठकर दिव्यलोकों को चले गये।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! यह है श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का महनीय माहात्म्य जो इसे श्रद्धाभक्ति के साथ पढ़ेगा या सुनेगा ही उसकी भी सद्गति होगी। यह मैंने आपसे गीताजी के तीसरे अध्याय का माहात्म्य सुना दिया। अब आगे (अगले खण्ड) में आपको चतुर्थ अध्याय के माहात्म्य को

सुनाऊंगा। जिस प्रकार शिवजी ने पार्वती जी को और भगवान् विष्णु ने श्री लक्ष्मी जी को सुनाया था।

छप्पय

पुत्र प्रतीक्षा करी फेरि सब परिचय पायो।
काशी करिबे श्राद्ध चल्यो ताही तरु आयो॥
गीता को अध्याय तीसरो पाठ करयो जब।
त्यागि अशुचि तनु तुरत प्रेत पितु दिव्य भयो तब॥
पिता पुत्र आयसु दई, कुल सबरो नरकनि परयो।
पुत्र पाठ तैं विप्रसुत, स्वयं तरयो कुल हू तरयो॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) — मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (*गीता जयन्ती*)

इस महापापी काम को मार डालो

[२१]

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(श्री भग० गीता ३ अ० ४१, ४२ श्लोक)

छप्पय

तातें सबतें प्रथम सीख अरजुन ! मम मानो ।
इन्द्रिनि कूँ वश करो द्वार इनही कूँ जानो ॥
इन्द्रिय ही घर कह्यो काम इनही में आवै ।
इन्द्रिय वश करि लेउ काम तुरतहिँ भगि जावै ॥
इन्द्रियजित यदि होउगे, काम-शत्रु नसि जाइगो ।
ज्ञान और विज्ञान रिपु, पापी यह मरि जाइगो ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तुम सर्व प्रथम इन इन्द्रियों को ही वश मे करके ज्ञान विज्ञान के नाशक इस महापापी काम को ही नाश कर दो ॥४१॥

विषयों से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे वह (आत्मा) है ॥४२॥

क्रम-क्रम से चढ़ने पर मनुष्य सबसे ऊपर चढ़ जाता है, तुम चाहो, हम छलांग मारकर एक दम ऊपर चढ़ जायँ, तो गिर ही पड़ोगे। तुम्हें राजा के पास जाना है, तो पहले प्रहरी के पास जाओ। प्रहरी तुम्हें मन्त्री के पास ले जायगा। मन्त्री राजा से मिला देगा। जो ऐसा न करके सर्व प्रथम ऊँचे ही चढ़ जाना चाहते हैं, वे निराधार होने के कारण गिर जाते हैं। इस संसार में नाना प्रकार के पदार्थ हैं, कुछ तो गाने बजाने वाले है, कुछ दृश्य देखने योग्य है, कुछ छूने से सुख-दुख की अनुभूति कराने वाले, कुछ चखकर रसाश्वादन कराने वाले हैं कुछ सूंघकर सुगंधि-दुर्गंधि का ज्ञान कराने वाले है, इन सब पदार्थों का ज्ञान हमें इन्द्रियों के ही द्वारा होता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य न करें तो इन पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी हम उन्हें उपयोग में नहीं ला सकते। नाना भाँति के रंग-विरंगे फूल खिले हुए हैं। ऊपर से देखने को चक्षुओं के गोलक ठीक हैं, ज्यों के त्यों बने हैं, उनमें शीशा चमक रहा है, पलक झप रहे हैं, किन्तु उनमें चक्षु इन्द्रिय अपना कार्य नही कर रही है, वह देखने में समर्थ नहीं है, तो विषय सम्मुख रहते हुए भी व्यर्थ हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझो। नाना प्रकार के सुगन्वित पदार्थ सम्मुख उपस्थित हैं, हाड़ मांस की बनी सुंदर नासिका (गोलक) में दिखायी दे रही है, किन्तु उसमें घ्राणेन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती, तो उन सुगन्धित पदार्थों का रहना व्यर्थ है। इसी प्रकार रसना, स्पर्शन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ विषयों को इन्द्रियों की अपेक्षा है और इन्द्रियों को विषयों की अपेक्षा है। तभी तो कहीं इन्द्रियों को विषयों से पर बताया है और कहीं विषयों को इन्द्रियां से पर बताया है। गीताकार विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों को पर मानते

हैं। इन्द्रियों से परे मन है। यद्यपि मन भी इन्द्रिय-करण-है किन्तु दोनों में अन्तर इतना ही है, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ वाह्यकरण-वाहरी इन्द्रियाँ-हैं और मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार-ये भीतरी सूक्ष्म इन्द्रियाँ-अर्थात् अन्तःकरण है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म और वाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अन्त: इन्द्रिय-अन्तः-करण सूक्ष्म है श्रेष्ठ है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। जैसे इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकों के विना विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकतीं, वैसे ही इन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना अपने व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकती। मन यदि दूसरे विषय में फँसा हो, तो विषयों का इन्द्रियों के साथ संसर्ग होने पर भी वे उसको ग्रहण नहीं कर सकतीं। इस विषय में भागवतकार ने दृष्टांत दिया है।

एक वाण बनाने वाला था। उसकी दूकान राज पथ के किनारे ही राजपथ से सटी हुई थी। वाण जब तक सर्वथा सीधे नहीं होते तब तक लक्ष्य बेधने में समर्थ नहीं होते। धनुष वाणों के युद्ध की परम्परा प्रायः समाप्त हो जाने से अब उतने वाण बनते नहीं। पहले नगरों में बहुत-सी दुकानें वाण बनाने की ही होती थीं, और वाण बनाने वाले तन्मय होकर उन वाणों को सीधा किया करते थे। उनमें तनिक भी टेढ़ापन वे नहीं छोड़ते थे।

राजपथ के किनारे वाला वाणकार अपने वाणों को सीधा करने में इतना तल्लीन था-उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया था-कि राजा की सवारी बड़ी धूम-धाम से उसके सामने से से निकल गयी। राजा के साथ-रथ, हाथी, घोड़ा तथा पैदल सैनिकों की-चतुरंगिनी सेना थी। आगे-आगे भाँति-भाँति के बाजे बजते जाते थे। राजा भी पालकी पर नहीं हाथी पर

बैठा था। सहस्रों पुरुष राजा का जय जयकार करते जाते थे। जब राजा की शोभायात्रा निकल गयी, तब किसी सैनिक ने उससे आकर पूछा—"क्यों भाई, इधर से राजा की शोभा यात्रा गयी है क्या ?"

उस बाण बनाने वाले ने कहा—"मै नही जानता।" क्यों नहीं जानते जी तुम ? राजा के साथ चतुरंगिनी सेना थी, लाखों आदमी उनके साथ में थे, तुम्हारी आँखें खुली थीं, तुम आँख बन्द करके सो भी नहीं रहे थे, बाजे वेग के साथ बज रहे थे, तुम्हारे कान खुले थे, तुम बहरे भी नहीं थे, फिर भी क्यों नहीं देखा सुना ?"

इसका एक ही उत्तर है, मेरा मन कहीं दूसरे स्थान में-बाणों को सीधा करने मे-लगा था। मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ विषयों का साक्षात्कार कर नहीं सकती। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, पर है। मन भी केवल संकल्प विकल्प ही कर सकता है। इस काम को करें या न करें। यह अच्छा है या बुरा, इससे लाभ है या हानि। मन अपने विचार को बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत भर कर सकता है। यह निर्णय निश्चयात्मिका बुद्धि ही दे सकती है, कि इसे करना चाहिये या न करना चाहिये। इससे लाभ होगा या हानि, बुद्धि जो भी निर्णय दे देगी, उसी के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा उस कार्य को सम्पन्न कराने की आज्ञा दे देगा। इससे सिद्ध हुआ मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है पर है बुद्धि से परे महत्तत्व है और महत्तत्व से परे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है। महत्तत्व, प्रकृति ये समाष्टि तत्व हैं, शरीर में बुद्धि तक ही सीमित हैं और ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं, इस न्याय से गीताकार बुद्धि से परे परमात्मा को बताते हैं। उन परमात्मा से परे कुछ भी नहीं हैं, वे

परमात्मा ही अन्तिम सीमा हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, वे ही चरमलक्ष्य हैं। पराकाष्ठा है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान ने इन्द्रियों को मन को और बुद्धि को काम का अधिष्ठान रहने का स्थान बताया, तब अर्जुन ने पूछा—पहिले हम किसका नियमन करें, पहले किसे वशीभूत करने की चेष्टा करें।

इस पर भगवान् ने कहा—"हे भरत कुलभूषण अर्जुन! पहिले तुम इन्द्रियों को अपने वश में कर लो।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! इन्द्रियो के वश करने से क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! करने कराने वाली तो सब इन्द्रियाँ ही हैं। सम्मुख कोई सुंदर सुगन्धित फल रखा है, मन उसे देखकर ललचा उठा, बुद्धि ने भी उसका साथ देकर उसे उठाकर खाने की स्वीकृति दे दी। किन्तु तुम इन्द्रियों को रोके रहे। आँख से उसे देखा ही नहीं। देखा भी तो कर्मेन्द्रियों को संयम में रखा। पैर वहाँ तक गये ही नहीं, हाथों ने उसे उठाया ही नहीं। तो तुम विषयों का उपभोग न कर सकोगे। इसलिये सर्वप्रथम वाह्य इन्द्रियों का संयम करके इस कामरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करो। यह शत्रु बड़ा अनर्थ करता है।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! यह काम क्या अनर्थ करता है?"

भगवान् ने कहा—"यह ज्ञान को नष्ट कर देता है, अज्ञानी बना देता है। विज्ञान को भी नाश कर देता है?"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या?

भगवान् ने कहा—आचार्यगण जो हमें उपदेश करते हैं ऐसा आचरण करना चाहिये। ऐसा न करना चाहिये। शास्त्र जो विधि निषेध का विधान करते हैं इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—फिर विज्ञान क्या हुआ ?

भगवान् ने कहा—*गुरु और शास्त्र ज्ञान का जो फल है,* उसे ही विज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं यह विज्ञान ही निःश्रेयस्-मुक्ति-का हेतु है। इसलिये यह काम बड़ा पापी है। अनर्थ की जड़ यही महान् शत्रु है। इन्द्रियों पर विजय पालोगे तो मन और बुद्धि पर भी तुम्हारी विजय हो जायगी।

अर्जुन ने पूछा—"इन्द्रियों पर विजय होने पर मन बुद्धि पर विजय कैसे हो जायगी ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मन और बुद्धि भी तो इन्द्रियाँ ही हैं। अन्तर इतना ही है, श्रोत्र, त्वक चक्षु आदि वाह्यइन्द्रियाँ-*बाहर के करण-हैं और मन बुद्धि आदि भीतर की इन्द्रियाँ-*अन्तःकरण हैं। केवल सूक्ष्मता का ही अन्तर है।

अर्जुन ने पूछा—सूक्ष्मता का क्या अन्तर है, प्रभो !"

भगवान् ने कहा—"देखो, पंडितगण तथा ऋषि मुनियों ने एक क्रम बना रखा है, उनका कथन है कि वाह्यविषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन परे हैं। मन से परे बुद्धि है। और बुद्धि से परे वह आत्मा (परमात्मा) है, उससे श्रेष्ठ उससे परे कोई भी नहीं। मुमुक्षु का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्ति ही है। वह तभी सम्भव है, जब इन्द्रियों के द्वारा इस परम शत्रु काम पर किसी प्रकार विजय हो जाय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने परतत्व का उपदेश कर दिया। अब इसका जो फल होगा उसका वर्णन करके भगवान् इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। उसे आपसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

विषयनि तें है श्रेष्ठ सकल इन्द्रिय समुदाया।
इन्द्रिनि तें मन प्रबल यही ईश्वर की माया॥
मन तें हूँ है श्रेष्ठ सूक्ष्म यह बुद्धि विचारी।
बुद्धि भ्रष्ट है जाय बात सब देइ बिगारी॥
बुद्धि तत्त्व तें परे जो, आतमा ताकूं मानियो।
विषय करन मन वश करो, शुद्ध बुद्धि तें जानियो॥

काम शत्रु को मारने का अन्तिम उपाय

[२२]

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥*
(श्री भग० गी० ३ अ०, ४३ श्लो०)

छप्पय

शत्रु काम है प्रबल युक्ति तैं वश में होवै।
विषयनि तैं मन रोकि बुद्धि तैं ताहि सँजोवै॥
भई बुद्धि वश फेरि काम का करै बिचारो।
मन यदि वश ह्वै जाय शत्रु कूँ तुरत पछारो॥
बुद्धितत्त्व तैं परे जो, आत्मा सूक्ष्म महाप्रबल।
वश में होवै काम-अरि, होहिँ चाहिँ जैसो सबल॥

निष्काम होना ही मुक्ति का मार्ग है, कामना ही संसार बन्धन का कारण है। हिरण्यकशिपु को मारकर जब भगवान् प्रह्लाद जी की स्तुति से प्रसन्न हुए तब भगवान् नृसिंह ने उनसे कोई वर माँगने को कहा।

---

* इस प्रकार हे महाबाहो ! बुद्धि से परे (परमात्मा) को जानकर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा मन को वश मे करके इस काम रूप दुर्जय शत्रु को मार डालो ॥४३॥

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! जब आपके साक्षात् दर्शन हो गये, तब और वर क्या मांगू?

भगवान् ने हठ की ओर कहा—"नहीं, तुम्हारी इच्छा न हो, तो भी मेरी प्रसन्नता के निमित्त तुम मुझसे कुछ वर अवश्य माँग लो। इस से मुझे प्रसन्नता होगी। तुम्हारी जो भी कामना हो, वही वर माँगलो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! आप नहीं ही मानते हैं और वर माँगने का हठ ही करते हैं, तो मैं यही वर माँगता हूँ, कि मेरे मन में कोई काम की वासना ही न उठे। मेरी समस्त कामनाओं का जड़ मूल से नाश हो जाय।"

यही भागवत धर्म में दीक्षित पुरुषों की सच्ची अभिलाषा है, मनुष्य को चौरासी के चक्कर में डालने वाली ये भाँति-भाँति की कामनायें ही हैं। संसार में सबसे बड़ा शत्रु यह 'काम' ही है। भोगों की इच्छा–विषय वासनाओं की कामना–भोगों में स्पृहा-यही संसार बन्धन को दृढ़ करने वाली हैं।

भगवत् कृपा से गुरु और शास्त्रोपदृष्ट मार्ग से इस काम रूप शत्रु पर विजय हो जाय तभी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

काम जब मन में आता है, तो सबसे पहिले अन्तःकरण की शान्ति को ही नष्ट करता है। इस सम्बन्ध की धार्मिक ग्रन्थों में अनेक कथाएं हैं। रैक्व मुनि की हंसों द्वारा प्रशंसा सुनकर राजा जानश्रुति उनके पास ब्रह्मज्ञान का उपदेश लेने गया। मुनि को उन्होंने भाँति-भाँति के धन रत्न देने चाहे। मुनि ने यही कहा—"राजन्! ये वस्तुएं तो उन्हें देनी चाहिये जिन्हें संसारी भोगों की कामना हो, इन वस्तुओं से ब्रह्मज्ञान नहीं खरीदा जा सकता। दुःख तथा अशान्ति का कारण 'काम' ही है।

एक कोई–महात्मा थे, उनके मन में एक फल के खाने की कामना हुई। फल तोड़ कर खाया, वह खट्टा था, उनकी कामना और बढ़ी। मार्ग में एक दूसरे महात्मा साधारण वेष में पड़े थे, उनके शरीर पर मक्खियाँ भिनक रही थीं मच्छर उन्हें काट रहे थे।

उन महात्मा को देख कर इन मैले कुचैले महात्मा ने कहा—"आइये, भगवन् ! अच्छे आये। कहिये फल खट्टा निकला न ? मीठे फल खाने की कामना है ?"

इन महात्मा ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"स्वामिन् ! आपको कैसे पता कि मेरी अमुक फल खाने की कामना है ?"

महात्मा ने कहा—"यह भी कोई बड़ी बात है क्या ? मन तुम्हारे शरीर में रहे या मेरे में। मन तो एक ही है। जिसे भगवत् साक्षात्कार हो गया है। उसे किसी के भी मन की बात जानने में कठिनायी नहीं होती।"

उन महात्मा ने कहा—"महात्मन् ! आप भगवत् साक्षात् कार करने वाले सिद्ध सन्त हैं, तो भगवान् से कह क्यों नहीं देते, ये मक्खी मच्छर आपको इतना कष्ट दे रहे हैं, इन्हें भगवान् आपके शरीर से हटा दें।"

तब उन महात्मा ने कहा—"ब्रह्मन् ! ये मक्खी मच्छर उतना कष्ट नहीं दे रहे हैं, जितना कष्ट आपको अमुक फल खाने की कामना दे रही है। शरीर तो अनित्य है नाशवान् है इसे कोई कष्ट क्या देगा। सबसे बड़ा कष्ट देने वाला तो महान् शत्रु यह काम ही है। जिसने कठिनता से जीते जाने वाले इस शत्रु पर विजय पाली है, उसे बाहरी व्यक्ति कोई कष्ट नहीं पहुँचा सकता। अतः सबसे पहिले अपने ही शरीर में रहने वाले इस काम को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने बुद्धि से परे परमात्म तत्त्व को बताया, अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो ! यह काम तो बीच में पड़ा ही रहेगा। हम इन्द्रियों का संयम भी करलें, किन्तु मन में काम वासना बनी ही रहे, तो परमात्म तत्त्व की प्राप्ति तो हो नहीं सकती, क्योंकि यह पापी काम तो ज्ञान विज्ञान का विनाशक ही है।

भगवान् ने कहा—"केवल इन्द्रियों के ही रोकने से काम थोड़े ही चलेगा। मैंने तो क्रम बताया, कि जैसा ऊपर चढ़ने को सर्व प्रथम पहिली सीढ़ी पर पैर रखना होगा, फिर क्रम-क्रम से सब सीढ़ियों को चढ़ते हुये झट ऊपर पहुँच जायँगे। पहिली सीढ़ी पर बिना पैर रखे आप कैसे ऊपर चढ़ सकते हैं ? इसलिए सबसे प्रथम तुम वाणी आदि इद्रियों का सयम करो। फिर मन का संयम करो सद्-असत् के निश्चय करने वाली बुद्धि द्वारा इस काम रूपी शत्रु को मार डालो।

अर्जुन ने पूछा—"क्या भगवान् बुद्धि से ही जाने जा सकते हैं, क्योंकि वे बुद्धि से परे हैं।

भगवान् ने कहा—"मैं तो वाणी, मन तथा बुद्धि का विषय नहीं हूँ, फिर भी बुद्धि मुझे मेरे समीप तक पहुँचा देती है। जैसे कोई व्यक्ति मन्दिर में जाकर भगवान् की अर्चा विग्रह-मूर्ति-के दर्शन करना चाहता है तो रथ के द्वारा वह दर्शन करने जा सकता है, किन्तु रथ उसे मन्दिर के जगमोहन तक तो ले जा नहीं सकता, क्योंकि जगमोहन के भीतर जाने का उसे अधिकार ही नहीं। रथ तो केवल तुम्हें मन्दिर के द्वार पर ले जाकर बाहर पहुँचा देगा। वहाँ से रथ से उतर कर स्वयं ही तुम्हें मन्दिर की मूर्ति तक पैदल जाना पड़ेगा। दर्शनों में जो शत्रुबाधक हो, तुम्हें वहाँ तक जाने में विघ्न

उपस्थित करते हों उन पर विजय प्राप्त करके ही आप मूर्ति तक पहुँच सकेंगे। जो विष्णु का परम पद है वहाँ तक आपको शरीर रूपी रथ जिसमें इन्द्रियाँ रूपी घोड़े जुते हुये हैं बुद्धि रूपी सारथी पहुँचा सकता है द्वार पर काम रूपी दुरासद् शत्रु काम खड़ा है। उसे निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा मारकर परम-पद-मोक्ष के समीप पहुँच जाओगे। बिना शत्रु को मारे आप पर तत्त्व को प्राप्त नही नहीं कर सकोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भगवद् गीता के तीसरे अध्याय में निष्काम कर्म की उपादेयता का वर्णन किया है। अब चतुर्थ अध्याय में जैसे ब्रह्मार्पण योग का वर्णन करेंगे, उस कथा को मैं आप से आगे कहूँगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

छप्पय

भगवद् गीता माहिँ तृतीय अध्याय मनोहर।
बरनन प्रभु ने कर्यो सुखद अति करम योग वर॥
सुख दुख लाभ अलाभ पराजय जय सम करिकें।
सकल कामना त्यागि लड़ौ निष्कामी बनिकें॥
काम शत्रु कूँ मारि कें, करम योग करि बनो मुनि।
यह प्रकरन पूरन भयो, ब्रह्मार्पन को मरम सुनि॥

श्री पार्थसारथये नमः

गीता-वार्ता

चतुर्थोऽध्यायः

(४)

परम्परा प्राप्त योग

श्री भगवानुवाच

[१]

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्री भगवान–ज्ञान यह अज अविनाशी ।
मैं ही वक्ता प्रथम सकल घट घट को बासी ॥
सर्व प्रथम यह ज्ञान सूर्य कूँ मैंने दीयो ।
सुत वैवस्वत दयो पाइ तिनि धारन कीयो ॥
वैवस्वत ज्ञानी बड़े, मनुपद अधिकारी भये ।
दयो पुत्र इक्ष्वाकु कूँ, नृपति कृतारथ ह्वै गये ॥

---

* श्री भगवान् कहते हैं—यह जो अविनाशी योग है, इसे मैंने पहिले विवस्वान् से कहा था । विवस्वान् ने मनु से कहा और मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा ॥१॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार वंश परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना । यह योग चिरकाल से इस लोक मे लोप हो गया था ॥२॥

जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, जिन उपकरणों से किया जाता है उसे साधन कहते हैं, जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है उसे साध्य कहते हैं। कर्म करने के पूर्व साध्य-साधन का निर्णय हो जाना चाहिये। मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है। अन्य योनि वाले गुणप्रवाह में बहने वाले स्वभावानुसार कर्म करने वाले हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि सामान्य कर्म पशुओं में मनुष्यों में प्रायः समान हैं, अन्तर इतना ही है, कि अन्य योनि वाले परमार्थ के निमित्त साधन नहीं कर सकते, मनुष्य परमार्थ के लिये प्रयत्न या साधन कर सकता है, अतः मनुष्य का एक दूसरा नाम साधक भी है। इस साधक या मनुष्य जन्म का साध्य क्या है, ऋषि, मुनि, वेदशास्त्र सभी एक स्वर से कहते हैं मनुष्य का साध्य मोक्ष है। मोक्ष क्या है, इस विषय में मतभेद है। कुछ सकाम कर्मावलम्बी स्वर्ग सुख को ही मोक्ष कहते हैं, कुछ शून्य को ही मोक्ष कहते हैं। वेद शास्त्र उस स्थिति को मोक्ष कहते है—जहाँ द्वन्द्वों का अभाव हो, परम शान्ति हो, परमानन्द हो, जिसमें जन्म मरण का चक्र न हो, जो नित्य, शाश्वत, सनातन, निर्भय पद हो।

इस मोक्ष की प्राप्ति के साधन, उपाय या निष्ठा क्या हैं? शास्त्रकारों ने मोक्ष प्राप्ति के बहुत से उपाय बताये हैं। किन्तु शास्त्रकारों ने उन सब साधनों को दो भागों में बाँट दिया है, एक कर्म मार्ग दूसरा ज्ञान मार्ग, उसे ही प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग, सांख्य और योग मार्ग, क्रम मार्ग सद्यःमार्ग आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। वेद में दो प्रकार के वचन आते हैं, कर्मों को करते रहना चाहिये और कर्म मात्र बन्धन के कारण हैं, अतः कर्मों को छोड़ना चाहिये। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। अतः ऋषियों ने दोनों के दो प्रकार के साधन बताये हैं।

कर्म करते रहना चाहिये, इसी का नाम कर्म मार्ग है, अर्थात् कर्म करते हुए मोक्ष पाने का मार्ग। दूसरे कर्म न करना चाहिये, अर्थात् संसार से वैराग्य करके जितना भी कर्मो को छोड़ सके उन्हें छोड़ते रहने का नाम त्याग मार्ग, सन्यास मार्ग या ज्ञान मार्ग है। उसमें त्याग के ही द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मुक्ति करना दोनों का ही लक्ष्य है, एक कर्म के द्वारा दूसरे ज्ञान के द्वारा।

ये दो मार्ग सनातन हैं, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये ब्रह्माजी के सात मानस पुत्र प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित हैं ये कर्म परायण पुरुषों के लिये कर्म मार्ग के आचार्य है। सन, सनत्सुजात, सनक, सनंदन, सनत् कुमार, कपिल और सनातन ये सात भी ब्रह्मा जी के मानस पुत्र ही हैं इनको स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति धर्म के आचार्य हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म दोनों ही सनातन मार्ग हैं। दोनों ही निष्ठायें सदा से चली आ रही है और दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। बिना त्याग के तो अमृतत्त्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती नहीं अतः त्याग की प्रधानता तो दोनों में ही है अन्तर इतना ही है, कि कर्म मार्ग वाले आरम्भ में वेदोक्त कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करते हुए अन्त में त्याग करते हैं। सांख्य माग वाले कर्मों का आदर नहीं करते, वे कहते हैं, जिस क्षण भी जहाँ भी वैराग्य हो जाय उसी क्षण जहाँ भी हो, चाहे घर में हो या वन में प्रव्रज्या ले लेनी चाहिये। सर्वस्व त्यागकर ब्रह्म विचार में ही लीन बने रहना चाहिये। कर्म मार्ग वालों का कहना है, देखो, वेद कर्म परक है, उसमें कर्म करने पर ही बल दिया गया है। वेद की एक लाख श्रुतियों में ९९ सहस्र ऋचायें कर्म परक ही हैं अतः वर्णाश्रम विहित कर्मो को करते ही रहना चाहिये।

मोक्ष प्राप्ति की ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों से चढकर मनुष्य ब्रह्मलोक में सम्मानित होता है, अतः क्रम पूर्वक आश्रम से आश्रम में जाना ही चाहिये। यही कर्म मार्ग का रहस्य है। व्यास जी ने अपने परम विरक्त पुत्र शुकदेवजी को सब शास्त्र पढ़ाकर जब ज्ञान प्राप्ति के लिये महाराज विदेह जनक के पास भेजा, तो पहिले तो महाराज जनक ने उनकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली जब उनकी बुद्धि को सुख-दुख में, मान अपमान में, धन और मिट्टी में, मृतक मास और स्त्री में सम देखा तो उनके प्रश्न करने पर उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया। पहिले उन्होंने यही बताया, क्रम पूर्वक वर्णाश्रम धर्म का श्रद्धा से पालन करना चाहिये जब शुकदेवजी ने पूछा—"किसी को इच्छा गृहस्थ बनने की न हो, तो क्या उसे मुक्ति की प्राप्ति न होगी ?

इस पर महाराज जनक ने कहा—"नहीं, जिन्हें उत्कट वैराग्य हो, संसारी भोगों की तनिक भी स्पृहा न हो, घर परिवार के लोगों में ममता न हो तो ऐसे साधक के लिये गृहस्थ होने की कोई आवश्यकता नहीं। उसे त्यागमार्ग ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। तुमको गृहस्थ बनने की आवश्यकता नहीं। तुम सर्वोत्तम ज्ञान के अधिकारी हो। इस प्रकार उनको कर्म मार्ग का रहस्य बताकर ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया।

कर्ममार्ग में कर्मों का दृढ़ता से पालन करते रहना चाहिये बलि वैश्व देव यज्ञ देवता, पितर तथा अतिथियों का पूजन निष्ठा से करते रहना चाहिये। देव, ऋषि तथा पितरों के ऋण से उऋण होने के लिये यज्ञ, दान और पुत्रोत्पत्ति करनी ही चाहिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं। ज्ञानमार्गी साधक किसी का

ऋणी नही, उसका किसो भी प्राणी के प्रति लेना देना नहीं, उसे तो निरन्तर ब्रह्मज्ञान में लीन रहना चाहिये।

इस प्रकार इन दो सनातन मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग भी है, उसे निवृत्त मूलक प्रवृत्ति परक कर्म मार्ग कहते हैं। इसमें कर्मों को करते रहने पर विशेष बल है इसलिये है तो यह कर्म मार्ग के ही अन्तर्गत, किन्तु भावना में अन्तर होने के कारण इसे निष्काम कर्मयोग, ब्रह्मार्पणमार्ग, भक्तिमार्ग, भागवतधर्म, सात्वत पन्यादि नामों से पुकारते हैं। यद्यपि यह मार्ग है तो सनातन किन्तु बीच-बीच में यह मार्ग लुप्त प्रायः हो जाता है। भगवान् अधिकारी के सम्मुख इसे प्रकट करके इसकी पुनः वारम्वार प्रतिष्ठा करते हैं। अब के भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने इसी निष्काम कर्मयोग अथवा भक्ति रूप धर्म एवं अनन्य योग को जो उनके समय में चिरकाल से नष्ट हो गया था, युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के प्रति कहा था। महाभारत में जब जनमेजय ने वैशम्पायन मुनि ने पूछा—"भगवन् किसने इस धर्म को कहा। वे कोई देवता थे या ऋषि, जो एकान्तिक अनन्य भक्त हैं उनकी दिनचर्या क्या है और यह धर्म कब से उत्पन्न हुआ। इसे सुनने को मेरे मन में बड़ा कुतूहल है मेरी इस शंका को निवारण कर दीजिये ?"*

इस पर वैशम्पायन जी ने कहा—राजन् ! जिस काल में कौरव और पांडवों की दोनों सेनायें आमने सामने युद्ध के लिये आ डटी थी और उस समय अर्जुन युद्ध से विमनस्क हो गये थे,

---

* कोनेष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा।
एकान्तिना च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो॥
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे।
(म० भा० शांति० प० ३४८ अ०)

उस समय स्वयं साक्षात् भगवान् ने गीता में इस धर्म को उपदेश दिया था। †

इसका नाम पांचरात्र पूजा पद्धति भी है। महाभारत के शांति पर्व के अन्तर्गत एक मोक्ष पर्व है, उसमें मोक्ष के उपायों का कितने विस्तार से वर्णन किया गया है, मोक्ष की इच्छा वालों को इस पर्व को बार-बार पढ़ना चाहिये। मोक्षधर्म पर्व में एक नारायणीयोपाख्यान है। एक बार नारद जी बदरीवन में भगवान् नरनारायण जी की सेवा में गये। वहाँ उन्होंने उनसे परतत्व के सम्बन्ध में पूछा। भगवान् नारायण ने परमात्मा को ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताया, और उन्हें श्वेतद्वीप में जाकर श्वेतद्वीपवासी नारायण के दर्शन करने की आज्ञा दी। नारदजी श्वेतद्वीप में गये और वहाँ के दिव्यपुरुषों को देखकर तथा वहाँ की पूजा पद्धति को देखकर बड़े चकित हुए। वहीं नारदजी ने भगवान् की पांचरात्र विधि से पूजा देखी।

पांचरात्र विधि से यज्ञ करने के सम्बन्ध में राजा उपरिचर की कथा है, राजा उपरिचर तप प्रभाव से ऊपर ही ऊपर रहा करते थे वे सात्वत धर्म या ऐकान्तिक धर्म के उपासक थे। अपने यज्ञों में वे वन के फल फूलों की ही बलि देते थे, सत्य में तत्पर रहते थे और कभी हिंसा नहीं करते थे। उन्होंने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि सभी उपकरणों को भगवान् की ही वस्तु समझकर, सब उन्हीं को समर्पित कर रखा था।*

---

† समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

* आत्मराज्यं धनं चैवं कलत्रं वाहनं तथा।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा॥
(महा० भा० शां० प० ३३५ अ०,२३ श्लो०)

पांचरात्र विधि से ही वे यज्ञयागादि कराते थे। पांचरात्र विधि से यज्ञ कराने के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा का वर्णन है। राजा उपरिचर के यहाँ अश्वमेध यज्ञ हुआ। शास्त्र की समस्त विधियाँ सम्पन्न हुईं, किन्तु किसी भी पशु का वध नहीं हुआ। वृहस्पति जी उस यज्ञ के आचार्य थे। भगवान् ने अदृश्य होकर ही अपना भाग ग्रहण किया। इस पर वृहस्पति जी बहुत कुपित हुए तब एकतमुनि ने उनको भगवान् की महिमा बतायी और कहा—मुनिवर हम श्वेतद्वीप जाकर भी भगवान् के दर्शन न कर सके। भगवान् जिसे दर्शन देना चाहें उन्हे ही दर्शन देते हैं। क्रोध करने से नहीं। इस प्रकार महाराज उपरिचर वसु सात्वत धर्मावलम्बी थे। एक बार जब ब्राह्मणों में और देवताओं में इस बात पर विवाद हुआ कि वेद में "अज से हवन करना चाहिये" अज क्या ? ब्राह्मण तो कहते थे 'अज' का अर्थ बीज है, जो तिल आदि। देवता कहते थे अज का अर्थ बकरा है। इन उपरिचर वसु को मध्यस्थ बनाया। इन्होंने देवताओ का पक्षपात करके 'अज' का अर्थ बकरा बता दिया। इससे ब्राह्मणों ने शाप देकर इन्हें नीचे गिरा दिया और एक गुफा में रहने लगे। उन्होने भगवान् की आराधना की थी, अत: भगवत् कृपा से उनका पुन: उत्थान हो गया।

सत्ययुग में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी, ज्यों-ज्यों धर्म कम होने लगा लोगों में सकामता बढ़ने लगी तो त्रैगुण्य वेदत्रयी का प्रचार होने लगा। त्रेतादि युगों में मन्त्रों द्वारा पवित्र किये हुए पशुओं का यज्ञों में वध आरम्भ हुआ। तब सकाम कर्मों का प्रचलन हुआ। ये सकाम कर्म वाले नियत काल तक प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलों को लक्ष्य करके प्रवृत्ति मार्ग का आश्रय लेने लगे। इन कर्म परायण

पुरुषों में यही बड़ा दोष आ गया। ये अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गये। इनका लक्ष्य मोक्ष न होकर नियत काल पर्यन्त स्वर्गीय सुखों का भोग ही रह गया। उन यज्ञों के पुण्यों की सीमा में आबद्ध होकर ही वे सकाम कर्म करने लगे और उसी के अनुसार उन्हें फल भी मिलने लगा। इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग या कर्म मार्ग में तीन भाँति के लोग हो गये। एक तो मोक्ष को लक्ष्य करके वेद शास्त्र की आज्ञा को मानकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने वाले वर्णाश्रमी। यदि वे विधिवत् वेद की आज्ञाओं का पालन करते हुए अव्यग्रभाव से निरन्तर वर्णाश्रम विहित कर्मों में जुटे रहे तो चाहे कितने भी समय के पश्चात् वे ब्राह्मण होंगे फिर सन्यासी होंगे ब्रह्मलोक में जायँगे। वहाँ ब्रह्मा के साथ मुक्ति के अधिकारी होंगे। सकाम कर्म करने वाले यज्ञीय पुण्यों के प्रभाव से स्वर्ग जायँगे पृथ्वी पर आयेंगे, फिर स्वर्ग जायँगे। ज्ञानमार्ग के उत्तम अधिकारियों को न वर्ण की अपेक्षा, न आश्रम की अपेक्षा वे अपने ज्ञान वैराग्य और घोर तितिक्षा द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

अब निष्काम कर्म योग एक बीच का मार्ग रहा। उसमें कर्म तो करते जाओ, किन्तु फल की अपेक्षा मत करो। ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करो। प्रधानतया इसी निष्काम कर्मयोग का उपदेश भगवत् गीता में दिया गया है और इसी मार्ग को भक्तिमार्ग सात्वत मार्ग कहा।

सात्वत धर्म की उपदेश परम्परा बताते हुए वैशम्पायन मुनि ने ब्रह्मा जी के सात जन्मों की परम्परा दी है, ६ धर्मों की परम्परा बताने के अनन्तर कहा—यह जो ब्रह्माजी का भगवान् की नाभि कमल से सातवां जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायण ने ही इस सात्वत धर्म का उपदेश ब्रह्मा जी को दिया। ब्रह्माजी ने

प्रजापति दक्ष को। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र सविता से भी बड़े पुत्र को इस धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने विवश्वान् सूर्य को दिया। सूर्य ने मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा इस धर्म का सर्वत्र प्रचार हुआ। कल्प के अन्त में यह धर्म पुनः नारायण में ही विलीन हो जायगा।

महाभारत में तो ऐसी विस्तार की ब्रह्माजी के सात जन्मों की परम्परा है। श्रीमद्भगवत् गीता में भगवान् ने इसे अति संक्षिप्त कर दिया है, इसलिये कि भगवान् का इतना ही बताने का तात्पर्य है कि यह निष्काम कर्मयोग ब्रह्मार्पण योग या भक्ति मार्ग कोई नूतन मार्ग मैं नही बता रहा हूँ। यह मेरा सनातन मार्ग है, जब-जब यह समय पाकर लुप्त हो जाता है, तब-तब मैं स्वयं योग्य अधिकारी द्वारा इसे पुनः प्रकट कर देता हूँ। श्री भगवत् गीता मैं वर्णाश्रम धर्म का भी वर्णन है, उसकी प्रशंसा भी है, सकाम कर्मयोग का भी वर्णन है उसकी निन्दा भी है, ज्ञानमार्ग या संन्यास मार्ग का भी वर्णन है, उसकी महान प्रशंसा है, उसके अधिकारी को सर्वश्रेष्ठ बताया है, उसके लिये विधि निषेध नहीं है यह भी बताया है, किन्तु गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मार्पण योग भक्तियोग या निष्काम कर्मयोग ही है, जिसका विस्तार भगवान् वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत में किया है। श्री मद्भागवत के बिना पढ़े गीता का अर्थ लग ही नहीं सकता।

महाभारत काल में दो ही मार्गों का प्रचलन था। वर्णाश्रम धर्म प्रवृत्ति मार्ग अथवा ज्ञान मार्ग निवृत्ति मार्ग अथवा संन्यास धर्म यह निष्काम योग, ब्रह्मार्पण योग, भक्ति योग लुप्तप्रायः हो गया था। भगवान् ने अर्जुन के माध्यम से उसे पुनः प्रकट किया। इसे श्री भगवान् स्वयं ही अपने श्रीमुख से कह रहे हैं। श्रीमद्-भगवत्गीता के चतुर्थ अध्याय का कहीं तो 'ज्ञान कर्म संन्यास

योग 'नाम है, कहीं ब्रह्मार्पण योग । जहाँ ज्ञान कर्म संन्यास योग है उसका अर्थ यों लगाना चाहिये कि साधारण लोग जो कार्य करते है वह अज्ञान पूर्वक कार्य करते हैं, किन्तु ज्ञान पूर्वक किये हुये कर्म संन्यास के ही सदृश है । ज्ञान पूर्वक किये हुये कर्मों से बन्धन नहीं होता, प्रत्युत जो गति संन्यासी की होती है, वही गति ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले कर्म योगी संन्यासी की भी होती है । ब्राह्मार्पण योग का अर्थ हुआ, सब कर्मों को ब्रह्मार्पण भाव से करो। इस कर्म का मुझे यह फल मिले ऐसी भावना न रखकर सब कर्मों को ब्रह्म के अर्पण कर दिया करे। किसी वस्तु को आप किसी को अर्पण कर दें उसे दे देंगे फिर आपका उसके फल पर, सुख-दुख पर कोई स्वत्व नहीं रहेगा। इस ब्रह्मार्पण अव्यय योग की परम्परा भगवान् बताते हैं ।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जब भगावन् ने काम रूपी शत्रु को मारकर निष्काम भाव से कर्म करने को कहा, तब यह शंका स्वभाविक उठती है, कि कर्म या तो वर्णाश्रम धर्म के पालन के हेतु किये जाते है, या मोक्ष के लिये सर्वथा कर्मों का संन्यास करने का विधान है, यह तो नई सी बात ही प्रतीत होती है, कि कर्म करते भी रहो किन्तु उनका फल मत चाहो, कर्म करते हुए भी संन्यासी बने रहो ।

इस पर भगवान् बिना पूछे स्वयं ही इस निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग अथवा सात्वत धर्म की संक्षिप्त परम्परा बताते हुए कहते हैं—"अर्जुन ! इस कभी भी व्यय न होने वाले योग का मैने पहिले विवस्वान् को उपदेश दिया था ।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने तो विवस्वान् जी को शिष्य बनाया, फिर विवस्वान् जी ने अपना शिष्य किसे बनाया ।"

भगवान् ने कहा—पुत्र अपनी आत्मा ही होता है। विवस्वान्-कोई घर वार छोडकर संन्यासी तो बने नहीं, वे तो घर में ही रहकर मेरे उपदेश से ब्रह्मार्पण बुद्धि से निष्काम कर्मों को करते रहे। अतः उन्होंने इस सम्प्रदाय की रक्षा के लिये अन्य बाहरी किसी को शिष्य न बना कर अपने पुत्र वैवस्वत मनु को ही इसका उपदेश दिया।

अर्जुन ने पूछा—वैवस्वत मनु ने किसे अपना शिष्य बनाया ?

भगवान् ने कहा—वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति आदि दश पुत्र हुए। इन में इक्ष्वाकु सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र थे। अतः मनु जी ने फिर इस योग का उपदेश इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु के सौ पुत्र हुए। वे सबके सब राजा हुए। बड़े पुत्र विकुक्षि से तो इक्ष्वाकु असंतुष्ट हो गये थे। इसलिये उन्होंने अपने किसी योग्य पुत्र को इसका उपदेश दिया होगा। इस प्रकार यह योग परम्परा से प्राप्त राजर्षियों में प्रचलित हुआ, किन्तु हे परतप अर्जुन ! काल की कराल कुटिल गति है, समय सदा एक सा नहीं रहता है। वह परिवर्तनशील है। इस द्वापर के अन्त में कलियुग के आरम्भ में जो यह महाभारत युद्ध हो रहा है, तब से अब तक बहुत समय बीत गया। पहिले भी मैंने सृष्टि के आदि में अनेकों बार ब्रह्मा को उपदेश दिया था और समय पाकर यह नष्ट हो गया था। उसी प्रकार अब भी अदृश्य हो गया, लोप हो गया। अब इस योग की परम्परा समाप्त हो गयी। इस सम्प्रदाय का लोप प्रायः हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने यह कहा कि विशेषतः राजर्षियों के जानने योग्य यह योग नष्ट हो गया, तब अर्जुन ने कहा—प्रभो ! यह तो बड़ा बुरा हुआ। ऐसा दिव्य योग समय पाकर नष्ट हो गया। अब इसके उद्धार का कोई उपाय

नहीं है क्या ? इसका भगवान् जो उत्तर देंगे, उसे आगे आप दत्तचित्त हो कर श्रवण करें।

छप्पय

नृपति वीर इक्ष्वाकु फेरि पुत्रनि कूँ दीन्हों।
धारन काहू करयो नहीं काहू ने चीन्हों॥
काल पाइ कें बीज अदरशन भयो यहीं तें।
राजरिषिनि के योग्य कहूँ हौं तोतें तातें॥
नष्ट भये जा जोग कूँ, तोकूँ आजु सुनाउँगो।
सबई संशय दूरि करि, धरमयुद्ध करवाउँगो॥

भक्त सखा समझकर तुमसे रहस्य कहता हूँ

[२]

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥
अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

तू है मेरो भक्त सुहृद् सुठि मित्र सनातन ।
ताईं तैं यह कह्यो तोइ तैं योग पुरातन ॥
स्वजन देखि कछु कहें उठे मन भाव मिले तैं ।
होवै हिय में हरप रहस की बात कहे तैं ॥
गुप्त योग यह सुगम अति, उत्तम है सब योग तैं ।
श्रद्धा तैं आचरन करि, छुटि जावै भवभोग तैं ॥

---

* वही यह पुरातन योग आज मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो, सखा हो । यह योग बड़ा उत्तम है और सब किसी को बताने योग्य भी नहीं है ॥३॥

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आपका जन्म तो पीछे हुआ है और विवस्वान् का जन्म बहुत पहिले हुआ है, फिर मैं यह कैसे जानूँ कि बहुत पहिले आपने ही इसे कहा था ॥४॥

रहस्य की बात सबके सम्मुख नहीं कही जाती। जो जिस बात को समझने की क्षमता न रखता हो, उसके सम्मुख उसे कहना व्यर्थ है। ४-५ वर्ष की कोई बच्ची अथवा बालक है, उसके सम्मुख कोई विवाहित युवती पति-सुख सम्बन्धी बातें करे। वैसे हाव-भाव कटाक्षों का प्रदर्शन करे, तो वे उसे क्या समझ सकेंगे। हाँ जिस युवक या युवती ने उस सुख की अनुभूति की है, वे केवल संकेत मात्र से ही सब समझ जायेंगे। अतः अधिकारी के ही सम्मुख कहना उचित है।

जिसका जिसके प्रति प्रेम है, अनुराग है, स्नेह है, वह उसका प्रेमी है, अनुरागी है, किन्तु यही प्रेम, अनुराग या स्नेह सांसारिक भावना से न होकर भगवत् भावना से हो तो उसी प्रेम या स्नेह को भक्ति कहते हैं और जिसमें किसी के प्रति भगवत्-भाव हो गया हो, उसे भक्त कहते हैं। भक्ति के अनेक भेद हैं। भक्त में और भगवान् में कैसा स्नेह होना चाहिये, इस विषय पर भक्ति शास्त्रों में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। भक्त और भगवान् में कैसा सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध में ५ रस माने गये हैं। शान्तरस, दास्यरस, वात्सल्यरस, सख्यरस और मधुररस।

जब भक्त भगवान् को सर्वान्तर्यामी मानकर शांतभाव से बैठकर उसकी अनुभूति करता है, उसे शांतरस के आस्वादन करने वाला भक्त कहते हैं। वह शरीर से नहीं—अन्तःकरण में—ब्रह्म का संस्पर्श पाता है और उस स्पर्श से वह पुलकित होकर आनन्दानुभव करता है।

यही रस जब और घनीभूत होता है, तो भगवान् को अपना स्वामी मानकर और अपने को उनका दास समझ कर सेवा में संलग्न हो जाता है, तब यही रस दास्यरस के रूप में परिणत हो जाता है। स्वामी की सेवा में कितना रस आता है, इसका अनु-

भव बिना दास बने कोई कर ही नहीं सकता। दास की यही भावना रहती है कौन सा कार्य करके मै अपने स्वामी को सुख पहुँचा सकूँ। दास का अपना निजका कोई सुख नहीं। उसे तो स्वामी के ही सुख में सुखानुभूति होती है। स्वामी अपनी रसना से जिस रस का आश्वादन करता है, उसका सुख सेवक ही अनुभव करता है। स्वामी की चरण सेवा में स्वामी को जो भी सुख मिलता हो, सेवक समझता है अहा! मेरे हाथ कृतार्थ हो रहे हैं, जो स्वामी के चरणारविन्दों के स्पर्श सुख को प्राप्त कर रहे है। वास्तव में स्वामी की सेवा से सुख सेवक को ही मिलता है। जिस सेवा में स्वयं को सुखानुभूति न हो, वह सेवा न होकर चाकरी है, नौकरी है, वेगार है, लोभ-लालच के लिये किया हुआ कार्य है। सेवारस सबसे श्रेष्ठरस है, किन्तु इसमें स्वामी और सेवक के बीच कुछ संकोच बना रहता है, यह संकोच भी हट जाय और स्वामी को स्वामी न समझकर अपना पुत्र समझ ले तो वही दास्यरस वात्सल्यरस में परिणित हो जाता है, जैसे ईख के जमे गुड को मैल रहित करने पर उसी गुड़ की चीनी वन जाती है।

वात्सल्यरस में सेवा तो सेवक के ही समान की जाती है, यही नही वत्स की, बच्चे की सेवा स्वामी से भी बढ़कर होती है। माता चाहे जितनी बहुमूल्य साड़ी पहिने हो, बच्चा बिना संकोच के आकर उससे अपनी नाक पोछ देता है, माता को इससे प्रसन्नता ही होती है। माता को वत्स के मल-मूत्र उठाने में कोई संकोच नहीं। छोटी से छोटी सेवा को माँ बड़े स्नेह से लाड़-प्यार से करती है। वात्सल्यजनित सेवा एक पराकाष्ठा की सेवा है, इतना सब होने पर भी माता-पिता और पुत्र में कुछ संकोच रहता ही है। वह संकोच भी जहाँ न रहे हृदय की गूढ से गूढ़ रहस्य से रहस्य

बात जिसके सम्मुख कही जा सकती हों, वह सम्बन्ध सख्य सम्बन्ध कहलाता है।

एक सखा अपने दूसरे सखा से कुछ छिपाता नहीं, सब कहने न कहने योग्य बातों को हृदय खोलकर स्पष्ट कह देता है। विहार, शैया, आसन तथा भोजनादि में कोई दुराव नहीं कोई अलगाव नहीं। एक शैया पर सो जायँगे, एक आसन पर बैठ जायँगे, एक थाली में खा लेंगे। यह सख्य सम्बन्ध स्नेह की पराकाष्ठा है। सच्चा सखा दुर्लभ है, भाग्यशालियों को ही वास्तविक सखा की प्राप्ति होती है, जिसका कोई अपना पृथक् स्वार्थ नहीं, पृथक् सुख नहीं, पृथक् अस्तित्व नहीं। दोनों व्यक्तित्व घुल-मिल जाते हैं यह सख्यरस की अन्तिम सीमा है, भगवान् के अतिरिक्त ऐसा सम्बन्ध अन्य किसी में सम्भव नहीं। पुरुष के सच्चे सखा वे ही श्यामसुंदर हैं। भक्त को ऐसे सखा मिल जायँ, तो फिर उसे कुछ कर्तव्य शेष रह ही नहीं जाता। यदि भक्त नारी हो और सखा पुरुषोत्तम हो, तो वही सख्यरस मधुररस के नाम से विख्यात हो जाता है। किन्तु एकलिंगी होने से सख्यरस ही सर्वश्रेष्ठ है। संसार में भी सखा होते हैं, किन्तु संसारी सखाओं में सुखानुभूति होने पर भी कुछ संसारीपन तो रह ही जाता है। यदि सखा भक्त है, अपने दूसरे सखा को भगवान् मानकर उसकी भक्ति करता है, तो ऐसे सनातन सखा के सम्मुख तो कोई दुराव की बात ही शेष नहीं रहती है। वह सखा तो सनातन सखा है, अनादि सम्बन्ध वाला सखा है। उसे जीवात्मा परमात्मा कहलो, प्रकृति पुरुष कहलो, नर और नारायण कहलो अथवा भक्त और भगवान् कहलो। दोनों अनादि हैं शाश्वत सम्बन्धी हैं सनातन साथी हैं। वे ही नर और नारायण श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप में द्वापर के अन्त में प्रकट हुए हैं। दोनों में स्वाभाविक मैत्री है, एक दूसरे के बिना रह

नहीं सकते। एक दूसरे से रहस्य की बात छिपा नहीं सकते। नारायण नर के सामने हृदय खोलकर रखते हैं, नर तो कल्याण स्वरूप ही है, उसका कल्याण तो हुआ हुआया ही है, उन दोनों के सम्वाद से लोक का कल्याण होता है। इसीलिये उन दोनों के सम्वाद को उपनिषद् कहते हैं दोनो के मिलन को योग कहते हैं, नारायण शासन करते हैं नर पर, इसलिये यह शास्त्र कहलाता है। भगवान् गाते है, भक्त सखा नर सुनता है इसलिये भगवान् का यह गान भगवद्गीता कहलाता है। यह संसारी विद्या नहीं वास्तव में यह विद्या संसार से मुक्त करने वाली, मुक्ति प्रदान करने वाली है, इसीलिये यह विद्या ब्रह्मविद्या कहाती है। अतः अब ब्रह्मार्पण योगरूप श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद को पाठकगण श्रवण करें।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् ने यह कहा कि समय पाकर यह निष्काम कर्मयोग या भक्तियोग नष्ट हो गया, तब अर्जुन ने पूछा—प्रभो! इसके पुनरुद्धार का कोई उपाय है?

भगवान् ने कहा—"अरे, मेरा-तेरा जो सम्वाद है उसी योग के पुनरुद्धार के ही निमित्त तो है। जिस योग का पहिले मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था, उसी योग का तो मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, उसी प्राचीन योग को तो तुमसे कहा है, क्योंकि यह उत्तम योग बहुत रहस्यमय है। सबके सम्मुख यह कहा नहीं जा सकता।"

अर्जुन ने कहा—प्रभो! इतने रहस्यमय योग का इस दास को ही आपने अधिकारी क्यों समझा?

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"तुम मेरे भक्त हो इसलिये तुमसे मैंने कहा।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मैं अकेला ही आपका भक्त थोड़ा

हूँ। आपके तो अनेकों भक्त हैं। इस समय भी भीष्म, द्रोण, कर्ण, धर्मराज, विदुर आदि आपके अनेक भक्त हैं।"

भगवान् ने कहा—अरे, ये सब भक्त हैं तो अवश्य, किन्तु ये सब तो मुझसे अवस्था में बड़े हैं, इनमें स्वयं बड़प्पन का अभिमान है, मैं इनका अभिवादन करता हूँ। कुछ बीच में बड़े छोटे पन का संकोच है, किन्तु तुम तो मेरे सखा हो, एक अवस्था के हो, हमजोली हो, मित्र हो, सुहृद् हो। तुमसे खुलकर हृदय की बात कह सकता हूँ, रहस्य को प्रकट कर सकता हूँ, भक्त होने के साथ ही तुम मेरे सखा भी हो, अन्य भक्तों की अपेक्षा तुममें यही विशेषता है। इसीलिये तुम्हारे सम्मुख इस रहस्यमय योग को प्रकट कर रहा हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भीष्मपितामह आदि को भगवान् ने अपने से अवस्था में बड़ा बताया और अर्जुन को एक अवस्था का अपना सच्चा सखा कहा, तब अर्जुन के मन में यह शंका हुई, कि ये बनते तो मेरे सखा हैं और कह रहे हैं, कि यह योग मैंने पहिले विवस्वान् सूर्य को दिया था। सबसे पहिले उन्हीं को उपदेश दिया था, उन्होंने वैवस्वतमनु से कहा, तो कहाँ विवस्वान् कहाँ मनु और कहाँ मैं उनका साथी अर्जुन कहाँ मेरी ही अवस्था के श्रीकृष्ण।

इसलिये अर्जुन ने पूछा—प्रभो! एक शंका आपके कथन में मुझे और उत्पन्न हो गयी। विवस्वान् का जन्म आज से न जानें कितने वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी तो हम कथा मात्र ही सुनते है। वैवस्वतमनु को ही उत्पन्न हुए लाखों करोड़ो वर्ष हो गये और आप तो मेरे मामाजी वसुदेवजी के घर में अभी उत्पन्न हुए हैं। माँ कुन्ती के मुख से मैं ऐसा सुनता आया हूँ, कि मेरा और आपका जन्म प्रायः एक समय में ही हुआ था। तो जब आप

इतने पीछे उत्पन्न हुए और विवस्वान् इतने पहिले उत्पन्न हुए तो आपने ही उपदेश दिया, यह बात मेरी बुद्धि में बैठती नहीं।

आप कहते हैं—"मैंने सृष्टि के आदि में उपदेश दिया, तो सृष्टि के आदि में आप जैसे थे, वैसे ही थे या कोई और विलक्षण रूप था, क्योंकि इस समय तो आप मानव देह में हैं। विवस्वान् सूर्य तो देवता हैं, तो पहिले आप भी देवता रहे होंगे। मानलो देवता रहे भी हों, तो पूर्वजन्म की बातें तो प्रायः स्मरण रहती नहीं फिर आपको कैसे स्मरण रहीं। आप सदा सर्वदा सत्यवादी हैं, असत्य भाषण आप करते नहीं, इसलिये इस रहस्य को मुझे समझावें कि आपने सृष्टि के आदि में विवस्वान् को उपदेश कैसे किया? इस शंका का समाधान करके तब आप आगे बढ़ें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ऐसी शंका की तो भगवान् ने जिस प्रकार इस शंका का समाधान किया, इसको मैं आगे कहूँगा, आप सब सावधानी के साथ इस सम्वाद को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अरजुन पूछन लगे—कही यह कैसी गाथा।
बात न बैठे हिये परम अचरज की बाता॥
परम पुरातन समय सूर्य को जनम भयो है।
प्रकटे पीछे आपु फेरि कस योग कह्यो है॥
समझूँ कैसे बात यह, कल्प आदि में विवस्वत।
मेरी तुमरी आयु सम, योग कह्यो कब पति जगत॥

अजन्मा होकर भी मैं जन्म लेता हूँ

[३]

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ०, ५, ६ श्लोक)

छप्पय

बोले तब भगवान्—"अरे, अर्जुन ! भोरो अति ।
पर पत्नि कूँ ताप देहि तेरी नहिँ दृढ़ मति ॥
मेरे बहुतक जनम भये जा जग के माहीं ।
का तेरे नहिँ भये अरे, तू जानत नाहीं ॥
नर नारायन ऋषि भये, करयो संग मिलि जोग तप ।
मैं जानूँ तिनि सबनि कूँ, जाने नहिँ तू परन्तप ॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे बहुत जन्म हो चुके हैं और तेरे भी । हे परंतप ! उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ॥५॥

मैं अज, अव्यय और सभी प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन बनाकर योगमाया के द्वारा उत्पन्न होता हूँ ॥६॥

काल स्वरूप भगवान् इस जगत् नाट्यस्थली में भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते हैं। उनको जो अज अव्यक्त मानकर नटवर रूप में क्रीड़ा करते हुए देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते, वे ही उनकी कृपा के भाजन बन जाते हैं। अर्जुन को जो भगवान् ने भक्तिरूप धर्म का–भागवत धर्म का–उपदेश दिया है, वह बहुत प्राचीन है। जब यह भागवत धर्म लुप्त हो जाता है, तब भगवान् पुनः इसका उपदेश योग्य अधिकारी को करते हैं।

हम मृत्युलोक वासी मनुष्यों का जो ३६० दिन का वर्ष होता है, वह देवताओं का एक दिन होता है। ऐसे देवताओं के दिनों से ३६० दिन का उनका एक 'दिव्यवर्ष' होता है। बारह सहस्र दिव्य-वर्षों की एक चौकड़ी होती है उसमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग एक बार बीत जाते हैं। ऐसी चौकड़िया जब एक सहस्र बार बीत जाती हैं, तब ब्रह्मा जी का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। ब्रह्मा जी के एक दिन को कल्प कहते है, जैसे हम दिन भर कार्य करके रात्रि में सो जाते हैं, ऐसे ही ब्रह्मा जी कल्प के अन्त मे समस्त सृष्टि को समेट कर सो जाते हैं उनके सोने को प्रलय कहते है, रात्रि बीत जाने पर वे पूर्व के समान फिर सृष्टि करते है। ब्रह्माजी के ३६० दिनों का उनका एक ब्राह्मवर्ष होता है और एक ब्रह्मा १०० वर्ष तक रहते हैं। १०० वर्ष के अनन्तर महाकल्प में महाप्रलय होती है, तब भगवान् के शरीर से दूसरे ब्रह्मा निकलते हैं।

जिस भागवत धर्म का उपदेश भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने अर्जुन को दिया है, उसकी परम्परा बताते हुए महाभारत के मोक्षधर्म पर्व में वैशम्पायन जी ने महाराज जनमेजय को बताया है कि सृष्टि के आदि में–महाप्रलय के पश्चात् भगवान् नारायण के मुख से ब्रह्माजी का मानसिक जन्म हुआ। भगवान् ने उनको

इसी भागवत धर्म का उपदेश दिया, ब्रह्माजी से फेनप ऋषियों ने इसे ग्रहण किया। फेनपों से वैखानसों ने वैखानसों से सोम ने इसे ग्रहण किया तदनन्तर काल क्रम से यह धर्म लुप्त हो गया।

पहले महाकल्प में तो ब्रह्मा जी का जन्म उनके मुख से हुआ था, दूसरे महाकल्प में ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के नेत्र से हुआ। तब ब्रह्मा जी ने सोम से इस धर्म को सुना। ब्रह्मा जी से रुद्र ने, रुद्र से बालखिल्यों ने ग्रहण किया, फिर समय पाकर यह धर्म लुप्त हो गया।

तीसरे महाकल्प के आदि में ब्रह्माजी भगवान् की वाणी से उत्पन्न हुए। तब भगवान् नारायण ने सुपर्ण नामक ऋषि को इसका उपदेश दिया। सुपर्ण से वायु ने, वायु से विघसाशी ऋषि ने, उनसे महोदधि ने इसे ग्रहण किया फिर काल की कुटिल कराल गति से यह धर्म लुप्त हो गया।

चौथी बार श्री ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के कान से हुआ। तब भगवान् ने इस सात्वत धर्म का उन्हें ही उपदेश दिया। ब्रह्माजी से स्वारोचिषमनु ने ग्रहणकिया, स्वारोचिषमनु से उनके पुत्र शंखपद ने, उनसे उन्हीं के पुत्र दिग्पाल सुपर्णाभ ने इसे ग्रहण किया। तदनन्दर पुनः यह धर्म लुप्त हो गया।

पांचवी बार ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् नारायण की नासिका से हुआ। फिर भगवान् से इस भागवत धर्म को ब्रह्माजी ने ग्रहण किया। ब्रह्मा जी से सनत् कुमार ने, सनत् कुमार से वीरण प्रजापति ने, उनसे रैभ्य मुनि ने. रैभ्य से उनके पुत्र दिग्पाल कुक्षि ने ग्रहण किया फिर यह धर्म लुप्त हो गया।

छटीबार ब्रह्मा जी का जन्म नारायण के अंड से हुआ। तब

भगवान् ने पुनः इन ब्रह्मा को इस भागवत धर्म का उपदेश दिया। उनसे वर्हिपद् मुनियों को, मुनियों से ज्येष्ठ नामक ब्राह्मण को, ज्येष्ठ से राजा अविकम्पन को यह धर्म मिला। फिर समय पाकर इस धर्म की सम्प्रदाय नष्ट हो गयी।

अबके सातवीं बार ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के नाभि कमल से हुआ है। अब के भी भगवान् ने ब्रह्माजी को ही इसका उपदेश दिया। ब्रह्मा ने प्रजापति दक्ष को, दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र सविता से भी बड़े पुत्र को और उनसे विवस्वान् (सूर्य) को दिया। सूर्य ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को और इक्ष्वाकु ने ही इसका प्रचार संसार में सर्वत्र किया। फिर कालक्रम से यह धर्म नष्ट हो गया था, उसी को फिर भगवान् वासुदेव ने महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन को उपदेश दिया। उस भगवत् गीता में इस भागवत धर्म सात्वत सम्प्रदाय का वर्णन मुख्य रूप से और यतियों का जो संन्यास धर्म है उसका भी इसमें वर्णन है।

जैसे ब्रह्माजी के कल्पारंभ में जन्म होते हैं वैसे ही भगवान् नारायण भी अपनी इच्छा से कच्छ, मत्स्य, वराह, कपिल, दत्तात्रेय, सनत् कुमार, नरनारायण, ध्रुवनारायण, पृथु, ऋषभ, यज्ञ, नृसिंह, हरि, वामन, हंस, धन्वन्तरि, मोहिनी, परशुराम, राम, कृष्ण बलराम, बुद्ध, कल्कि आदि अनेक रूपों में अवतरित होते हैं। उनके कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार आदि असंख्यों अवतार हैं, उनकी कोई गणना करने वाला संसार में नहीं प्रकट हुआ। जब स्वयं भगवान् अनंत हैं तो उनके अवतार भी अनंत हैं। उन्हें भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। उन सबके रहस्य को स्वयं भगवान् ही भली भाँति जान सकते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कहा कि इस योग

का उपदेश मैंने पहले विवस्वान् को दिया था, तब अर्जुन ने पूछा—आप विवस्वान् से पीछे पैदा हुए हैं, फिर आपने विवस्वान् को कैसे उपदेश दिया होगा? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! मेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं।"

अर्जुन ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या कहा महाराज! आपके और जन्म, सो भी एक नहीं असंख्य जन्म। भगवन्! जन्म तो कर्मों के अनसार होते हैं। कर्म ही बन्धन के कारण हैं। आपके जन्म कैसे हुए।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"अरे, मुझे कर्म और उसके बन्धन स्पर्श भी नहीं कर सकते। मै कर्मों के अधीन होकर जन्म नहीं लेता। मैं तो स्वेच्छा से, क्रीड़ा के लिये जन्म लेता हूँ।

अर्जुन ने कहा—कितने जन्म आपने लिये।"

भगवान् ने कहा—"जैसे मै अनन्त हूँ, मेरे नाम अनन्त हैं, वैसे ही मेरे अवतार भी अनन्त हैं। उन अवतारों के अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, युगावतार आदि भेद भी अनन्त हैं। कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, हंस, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, शेष, हयग्रीव आदि अनन्त रूपों में मैं समय-समय पर अवतीर्ण होता हूँ। मेरे ही अनंत जन्म नहीं हुए हैं, अर्जुन! तुम्हारे भी बहुत से जन्म हो चुके हैं।"

अर्जुन ने कहा – महाराज, मेरे भी बहुत जन्म हुए हैं, आप कैसे जानते हैं, मैं तो जानता नहीं। मुझे तो स्मरण नहीं।"

भगवान् ने कहा—जीव में और शिव में, तुममें और मुझमें इतना ही तो अन्तर है। मैं तुम्हारे सब जन्मों की बातें जानता हूँ। पहले ब्रह्मा जी के भी पांच सिर थे, भगवान् रुद्र ने किसी कारण से उनका पंचम सिर नख से काट लिया। काटते ही वह सिर रुद्रदेव के हाथों में चिपक गया। ब्रह्मा जी को क्रोध आया।

क्रोध के कारण उनके मस्तक पर पसीना आ गया। उस पसीना को ब्रह्मा जी ने हाथ से छिड़क दिया। उससे एक पुरुष उत्पन्न हो गया। उस पुरुष ने ब्रह्मा जी से पूछा—"मैं क्या करूं" तब ब्रह्मा जी ने रोष में भरकर कहा—इस कपाली रुद्र को मारो वह ब्रह्मा जी का पुरुष रुद्रदेव के पीछे दौड़ा रुद्रदेव मुट्ठी बाँधकर भगे। सर्वत्र घूमते रहे, परन्तु उस पुरुष ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। तब वे भगते हुए मेरी शरण में बदरीनाथ में आये। मैंने हुंकार मारकर ब्रह्मा जी के पुरुष को अचेतन कर दिया। तब रुद्रदेव को भूख लगी। मुझसे भिक्षा माँगी। कपाली को रक्त की भिक्षा देनी चाहिये। मैने अपनी दक्षिण भुजा ऊपर करदी। उसमें रुद्रदेव ने अपने त्रिशूल से प्रहार किया। जिससे उसमें से सुवर्ण वर्ण की एक रक्त की धारा निकली, जिसे कपाली रुद्र ने अपने कपाल में ले ली। उसको मंथन करने से जो व्यक्ति हुआ वही मेरा पुरुष "नर" हुआ। अर्जुन! वह नर तुम्ही थे।

फिर नर की और ब्रह्मा जी के पुरुष की लड़ाई हुई। उसमें ब्रह्मा जी के आदमी को नर ने मार दिया। फिर ब्रह्मा के पुरुष को और नरको मैने सूर्य और इन्द्र को दे दिया। फिर वे हो बालि सुग्रीव हुए। बालि रूप में अर्जुन तुम ही उत्पन्न हुए थे। फिर तुम को सुग्रीव के कहने से रामरूप से मैंने ही मारा तब वे दोनों कर्ण और अर्जुन के रूप में प्रकट हुए हो। अब तुम कर्ण को मारोगे। धर्म की मूर्ति नामक पत्नी में जो हरि, कृष्ण, नर और नारायण चार पुत्र हुए। उनमें से मुझ नारायण के सखा नर तुम ही हो। कहाँ तक गिनाऊं हे परंतप! तुम्हारे भी बहुत जन्म हो चुके है।"

अर्जुन ने पूछा—महाराज! आप तो सब जानते हो, मुझे ये सब बातें क्यों नहीं याद हैं?

भगवान् ने कहा—"तुम जीव धर्म के कारण भूल जाते हो, मैं ईश होने के कारण भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनों काल की बातों को जानता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आप तो अज है। आपका तो कभी जन्म होता ही नहीं। जन्म मृत्यु के चक्कर से आप सर्वदा रहित हैं। फिर आपका जन्म कैसे संभव हो सकता है?"

भगवान् ने कहा—"जन्म और मृत्यु कहते किसे है?"

अर्जुन ने कहा—"नूतन इन्द्रियों के सहित नूतन देह धारण करने को जन्म कहते है तथा पहले देहेन्द्रियों के वियोग को मृत्यु कहते हैं। जन्म मृत्यु में धर्माधर्म ही कारण हैं। आप दोनों से रहित हैं।

भगवान् ने कहा—"परंतप! तुम ठीक कहते हो, मेरा जन्म साधारण जीवों के समान भौतिक पदार्थों से कर्माधीन होकर नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—फिर भी जब आप जन्म लेते है, तो घटते बढ़ते तो होंगे ही। बाल्य, पौगंड, किशोर, युवा और वृद्धावस्था वाले तो होते ही होंगे?"

भगवान् ने कहा—"जब मेरा जन्म भौतिक नही, कर्माधीन नही तो फिर मुझमें वृद्धि तथा ह्रास सभव कैसे हो सकता है, मै तो नित्य शाश्वत तथा अव्यय हूँ।"

अर्जुन ने कहा—अज अव्यय होने पर भी जब शरीर की उपाधि को ग्रहण करते हैं, तो आप साधारण जीवों के ही समान होते होंगे?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, मैं समस्त जीवों का ईश्वर स्वामी ही बना रहता हूँ। मेरी ईश्वरता सर्वव्यापकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

अर्जुन ने कहा—"आप अज हैं, अव्यय हैं और ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त चराचर जीवों के स्वामी भी हैं, तब आप शरीर धारण किस प्रकार करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—देखो, मैं वास्तव में अजन्मा भी हूँ और अविनाशी भी हूँ, तथा जड़ चेतन्य चर और अचर का स्वामी भी हूँ, इतना सब होने पर भी मै अपनी माया से जन्म लेता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—माया क्या है, भगवन् ! भगवान ने कहा—"जो इस विचित्र भाँति के विश्व को विविध शक्तियों से सम्पन्न हो, जिसके लिये कोई असंभव अनहोनी बात न हो वही माया है।"

अर्जुन ने कहा—"यह माया तो संसार को प्रकट करती है ?" आप माया से कैसे जन्म लेते हैं ?

भगवान् ने कहा—संसारी माया के द्वारा नहीं। मेरी एक अपनी निजी माया है, उसी अपनी माया के कारण मैं उत्पन्न हुआ-सा-देहवान्-सा दिखायी देता हूँ। मैं अपनी ही रची माया के द्वारा प्राणियों को दृष्टिगोचर हो रहा हूँ। भौतिक पदार्थों से बनी इन्द्रियाँ भला मुझे देखने में समर्थ कैसे हो सकती है, क्योंकि मैं सम्पूर्ण भूतों के गुणों से सदा सर्वदा विमुक्त ही रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"यह जो संसार को उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति है उससे ही आप उत्पन्न होते हैं।"

भगवान् ने कहा—"यह प्रकृति तो मेरी चेरी है, इसे तो मैं वश में रखता हूँ, यह तो मेरे अधीन रहती है। मेरी अपनी एक निजकी प्रकृति है उसी को अधिष्ठान बनाकर अपनी ही योग माया से मै उत्पन्न-सा हुआ-सा दिखायी देता हूँ। मैं समस्त जीवों का आत्मा हूँ ईश्वर हूँ संसार के कल्याण के निमित्ति अपनी योग माया का आश्रय लेकर देहवान् सा-दृष्टिगोचर होता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! संसार के कल्याण के हेतु आप कब प्रकट होते हैं। आप किसी निश्चित समय में ही प्रकट होते हैं या जब इच्छा होती है तभी प्रकट होते है। आपके प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन क्या है ?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् से उनके जन्म का कारण और काल का प्रश्न किया, तब भगवान् ने जो इसका उत्तर दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

यद्यपि जनमूँ नहीं कबहुँ हौं घट-घट वासी।
मृत्यु न मेरी होहि अखिलपति अज अविनासी॥
जितने जग के माहिँ चतुरविधि जीव चराचर।
तिनि सबको हौं ईश प्रकृति तैं परैं परावर॥
तोऊ अपनी प्रकृति के, ह्वै अधीन क्रीड़ा करूँ।
सहित योगमाया प्रकट, होऊँ तन बहुतक धरूँ॥

मैं युग युग में अवतरित होता हूँ

[४]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ७, ८ श्लो)।

छप्पय

भारत ! जब जब होहि धरम की ग्लानि जगत में ।
बाढ़ैं पापी असुर करैं उत्पात अवनि में ॥
हानि धरम की होहि संत जन अति दुख पावैं ।
अधरम अति बढ़ि जाय दुष्ट सज्जननि सतावैं ॥
तब तब हौं बहु रूप धरि, विविध वेष धारन करूँ ।
जन सम्मुख साकार बनि, संतनि की विपदा हरूँ ॥

जो सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है, जो संसार चक्र को

---

* हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ ।।७।।

साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।।८।।

सुव्यवस्थित रूप से चला रहा है, वही धर्म है। संसार को तो भगवान् चला रहे है, जो धर्मरूप साक्षात् श्रीहरि ही हैं। ऐसा पुराणों में आया है, कि पहिले धर्म एक रूप में रहते थे, अर्थात् सर्वत्र धर्म ही धर्म था, अधर्म का नाम भी नहीं था। केवल धर्म के रहने से संहार नहीं हो सकता। अतः संहार के निमित्त ब्रह्माजी के पृष्ठ भाग से अधर्म की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी के वक्षःस्थल से धर्म उत्पन्न हुआ है, अतः वह ज्येष्ठ है श्रेष्ठ है। पीठ से अधर्म हुआ अतः वह कनिष्ट है, निकृष्ट है। अधर्म होने से धर्म क्षयिष्णु हो गये। धर्म के क्षयिष्णु होने की एक पौराणिक कथा है।

पिप्पलाद मुनि की पत्नी अत्यन्त ही सुंदरी थी, वह एक बार गंगा स्नान कर रही थी। धर्म वहाँ पहुँच गये। उसके सौन्दर्य के कारण धर्म का मन चंचल हुआ। उनके मनमें काम की वासना उत्पन्न हो गयी। सती-साध्वी धर्म परायणा मुनि पत्नी से धर्म के मनोभाव छिपे न रह सके। उन्होंने धर्म को शाप दिया—"समस्त कर्मो के साक्षी होकर भी तुम्हारा मन दूषित हो गया है, अतः आज से तुम क्षयिष्णु हो जाओ तुम्हारी एक रूपता नष्ट हो जाय। तभी से धर्म का ह्रास होना आरंभ हो गया। सत्ययुग में धर्म चारों चरण में-अर्थात् परिपूर्ण रूप में-रहते है। सत्य के अन्त में धर्म में ह्रास होता है, अतः त्रेता में धर्म में तीन ही चरण रह जाते है। द्वापर में दो, कलियुग में एक और कलि के अन्त में वह भी नष्ट हो जाता है, तब भगवान् कल्कि रूप में प्रकट होकर अधर्म का शमन करके धर्म की स्थापना कर देते हैं। इसलिये घोर कलियुग के पश्चात् शुद्ध सत्ययुग आरम्भ हो जाता है।

भगवान् धर्म के साथ ऐसा पक्षपात क्यों करते हैं? इसलिये कि धर्म ही जीवों का संरक्षण करता है, धर्म ही सबको धारण

करता है। धर्म सबका संरक्षण कैसे करता है ? इस बात को समझ लेने के लिये पहिले धर्म का स्वरूप समझना चाहिये। धर्म कहते किसे हैं–जो समस्त प्रजा को धारण करे, जो समस्त प्रजा का वैभव बढ़ावे सबकी उन्नति चाहे। जो सबको अहिंसा का उपदेश दे, प्राणियों की हिंसा को रोके। जो परस्पर में विरोध उत्पन्न न करे, जो लोक परलोक में सुखप्रद हो वही धर्म है। धर्म वाद-विवाद लड़ाई-झगडा मारपीट से प्राणियो को बचाकर परस्पर में मैत्रीभाव से रहने को कहता है। इसीलिये धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियदमन, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दस लक्षणों वाले को धर्म कहा है। कहीं पर दस से बढ़ाकर ये सद्गुण ३० बताये है। उनके नाम ये है। सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी, संतसेवा, भोगों से निवृत्ति, प्रारब्धचिन्तन, मौन आत्मचिन्तन अन्नजलादि को बाँट कर खाना, प्राणिमात्र में ईश्वरबुद्धि, हरि कथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, प्रभु के प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के भाव रखना।

भगवान् मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह इन पांचों में ही समस्त धर्म का समावेश कर दिया है। सोचिये जो प्राणीमात्र की हिंसा से बचने का प्रयत्न करेगा, वह दूसरों में कलह किस प्रकार होने देगा। वह तो प्राणीमात्र को प्यार करके सबको अपने समान ही अनुभव करेगा। जो मनसा वाचा कर्मणा सत्य का ही आचरण करेगा, उससे दूसरों का अनिष्ट कैसे हो सकेगा। जो किसी प्रकार की कायिक, वाचिक और मानसिक चोरी न करेगा, वह कपट का व्यवहार कैसे करेगा। जो शरीर से, मनसे, वचन से पवित्र रहेगा, उससे पाप

की संभावना कैसे हो सकती है। जो अपनी इन्द्रियों को सदा वश में रखने का प्रयत्न करेगा उससे अनर्थ की संभावना कैसे हो सकती है।

धर्म के मन में पिप्पलाद् मुनि की पत्नी के प्रति काम का संकल्प उठा इसी से वे क्षयिष्णु बन गये, इससे सिद्ध हुआ अधर्म काम संकल्प से होता है। जो धर्म के विपरीत है वही अधर्म है। अर्थात् हिंसा करना, सत्य न बोलना, चोरी करना, पवित्रता से न रहना और अपनी इन्द्रियों को वश में न रखना ये ही अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सृष्टि का विनाश होता है। जो धर्म के अहिंसा सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह इन अंगों का पालन करते हैं, वे लोग साधु कहलाते हैं, इसके विरुद्ध जो हिंसा, झूठ, चोरी, अपवित्रता और भोगो में स्वच्छन्दता आदि असद् व्यवहार करते हैं, वे असाधु हैं, दुष्कृत-दुष्टपुरुष-हैं। सज्जन लोग तो न किसी को दुःख ही देते हैं न किसी की हिंसा ही करते हैं, तो उनका संरक्षण कैसे हो, दुष्टों से उनका परित्राण कैसे हो? भगवान् कहते हैं इसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। वैसे साधु पुरुषों की—सज्जनपुरुषों की—रक्षा तो उनका वह धर्म ही करता रहता है, जिस धर्म की रक्षा में वे अपने प्राणों तक को होमने को तैयार हो जाते हैं। अर्थात् धर्म रूप से शरीरी होकर प्रतिक्षण भगवान् उनकी रक्षा करते हैं, किन्तु जब अधर्म अत्यधिक बढ़ जाता है, धर्म निर्बल बन जाता है, तब भगवान् शरीर धारण करके साधु संरक्षण और दुष्ट विनाश का कार्य करते हैं। साधु पुरुष तो किसी के प्राण का हरण नहीं करते चाहे वह दुष्ट ही क्यों न हो, किन्तु भगवान् इस काम में नहीं हिचकते। वे दुष्टों का विनाश ही कर देते हैं, क्योंकि वे स्वयं धर्म अधर्म पुण्यपाप से परे हैं। उन्हें न किसी काम से पुण्य होता है, न पाप ही लगता है, वे तो सबके स्वामी भगवान् ही ठहरे।

अच्छा अब प्रश्न यह उठता है, कि भगवान् ने बैठे ठाले इस अधर्म को उत्पन्न ही क्यों किया ? अकेले धर्म ही रहते, सब उनकी छत्रछाया में सुखी रहते। भगवान् को भी बार-बार अवतार लेने की आवश्यकता न पड़ती। सब एकरस बने रहते।

बात तो ठीक ही है, किन्तु फिर यह द्वन्द्वात्मक संसार कैसे चलता। सब एक-सी दशा में ऊब जाते। संसार का स्वरूप ही परिवर्तनशील है। जब भगवान् को कोई काम नहीं होता, तो वे भी बैठे-बैठे ऊब जाते। उनकी क्रीडा भी न बनती। इसलिये संसार चलाने के लिये, क्रीडा करने के लिये, मन विनोद के लिये, चहल पहल के लिये, कुछ होते रहने के लिये भगवान् ने धर्म और अधर्म की सृष्टि की।

अच्छा जब धर्म अधर्म दोनों ही भगवान् के द्वारा निर्मित हैं, तो भगवान् धर्म का ही पक्ष क्यों लेते है। अधर्म के साथ पक्षपात क्यों करते है ? इसका उत्तर यही है, कि भैया अच्छे पुरुषों के साथ भव्य व्यक्तियों के प्रति पक्षपात होना स्वाभाविक ही है। माता-पिता भी अच्छी बुरी संतानी में से अच्छी संतान के प्रति पक्षपात करते ही हैं। बुरी संतानों को मार ही डालते हों, सो बात नहीं। जीने उन्हें भी देते है, अस्तित्व उनका भी बनाये रखते है, किन्तु अधिक पक्ष अच्छी ही सन्तान का लिया जाता है, यदि जननी जनक स्वयं अच्छे हों तब। जिसमें जितने ही अच्छे गुण हों, जिनमें जितना ही अधिक गुरुत्व हो, बड़प्पन हो, उसका उतना ही अधिक आदर किया जाता है। धर्म बड़े हैं, अच्छे है गुण में भी अधिक हैं। रुपये में दस आने धर्म है ६ आने अधर्म हैं। सत्ययुग में तो धर्म के चारों पाद रहते हैं। त्रेता में ३ रहते हैं, द्वापर में दो और कलि में एक। तो ३ और दो पाँच और कलि का एक इस प्रकार ६ ही पाद हुए। इधर सत्ययुग के चार और

त्रेता के तीन-सात द्वापर के दो इस प्रकार नौ हुए, एक पाद कलि का ऐसे १० पैर हुए जब कलियुग के अन्त में धर्म बिना पैर के हो जाते है, तो भगवान् स्वयं घोड़े पर चढ़कर धर्मद्रोही दुष्टों का नाश करके धर्म के चारों पैरों को फिर से जोड़ देते है। घोर कलिकाल से चतुष्पाद वाला शुद्ध सत्ययुग आ जाता है। भगवान् कलि के अन्त में ही प्रकट होते हों, सो बात नहीं जब-जब अधर्म की हानि होती देखते है तब-तब वे जलचर, स्थलचर पशु, पक्षी, मनुष्य, तिर्यक् अनेक रूपों में प्रकटित हो जाते है। वे प्रत्येक युग के अन्त में युगावतार रूप में होते है जैसे कपिल, राम, व्यास और कल्कि मन्वन्तरों के अन्त में मन्वन्तरावतार रूप में प्रकट होते हैं जैसे यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विश्वक्सेन, धर्मसेतु, स्वधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु तथा इसी प्रकार देवताओं के कार्य के लिये धन्वन्तरि, मोहिनी कच्छादि अवतार धारण करते है। मत्स्य, नृसिंह, परशु-राम, राम, कृष्ण, बलदेव तथा बुद्धादि रूप में भगवान् प्रकटित होते हैं। इनके अतिरिक्त तप, प्रजापति, ऋषि, धर्म, विष्णु, मनु, देवता, पृथ्वीपाल ये भी सब भगवान् के अंशावतार हैं। यहाँ तक कि भगवान् को जब प्रलय करनी होती है तब अधर्म, रुद्र क्रोधवश सर्प और दैत्य आदि विनाशक विभूतियाँ भी भगवान् के काल स्वरूप हो हैं। इस प्रकार युगावतार, मन्वन्तरावतार, अंशा-वतार, कलावतार, आवेशावतार और परिपूर्णावतार भगवान् के अनेक अवतार होते हैं। भगवान् स्वयं शरीर धारण करके दर्शनों की इच्छा वाले अपने अनन्य भक्तों को दर्शन देते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और उन्हें उपदे-शादि देकर अपने सत्संग का लाभ भी देते हैं और दुष्टों का दमन भी करते हैं तथा शिष्टों का संरक्षण करते हैं। भगवान् अवतार

न लें तो यह पृथ्वी घोरातिघोर नरक बन जाय कभी भगवान् स्वयं सशरीर प्रकट हो जाते हैं कभी साधु महात्मा और भक्तों के शरीर में प्रवेश करके उनके द्वारा विविध लोक कल्याण के धार्मिक कार्य करा लेते हैं। जिनको विभूतिवान्, धर्मात्मा धर्म-रक्षक, विशुद्ध सदाचारी संत देखो, लो ये भगवान् के ही अंश या कला के अवतार हैं अवतारों की कोई संख्या नहीं गणना नहीं। ये सब अवतार धर्म की अभिवृद्धि के ही निमित्त होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो अर्जुन के यह पूछने पर कि भगवन्! आप कब और क्यों अवतार लेते हैं तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! मै युग-युग में अवतार लेता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"युग-युग से आपका अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"युग माने समय! जब जिस समय आवश्यकता होती है, अधर्म बढ़ जाता है तभी मैं अवतार लेता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"यदि आपके अवतार का कारण अधर्म की वृद्धि ही है, तब तो लोग अधर्म ही किया करेंगे।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे भाई, मेरे अवतार का मुख्य कारण तो साधु संरक्षण है।"

अर्जुन ने पूछा— अधर्म की वृद्धि और साधु संरक्षण का क्या सम्बन्ध?"

भगवान् ने कहा—अधर्म तो तभी बढ़ेगा जब धर्म की ग्लानि होगी जगत् में धारण करने वाले धर्म का ह्रास होगा। उस समय मैं अधर्म को दबाने के लिये और धर्म को पुनः स्थापन करने को अवतार लेता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"उस समय आप क्या कार्य करते है?"

भगवान् ने कहा—"उस समय मै असाधु पुरुषों से सताये हुए

साधु पुरुषों की रक्षा करता हूँ और उन दुष्ट दुष्कर्म करने वाले असाधुओं का विनाश करता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"दुष्ट दुष्कर्मियों को मार डालने से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"होता क्या है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले पापियों को पीड़ित करने से अधर्म करने वाले भयभीत हो जाते हैं, धर्म की संस्थापना हो जाती है, अतः जब-जब अत्याचारी पापाचारी दुष्ट लोग बढ़ जाते हैं, प्रभु प्रेमी पुरुष पापियों द्वारा पीड़ित होने लगते हैं तभी समय-समय पर मैं प्रकटित होकर दुष्टों को मारकर शिष्टों की रक्षा करता हुआ धर्म की अभिवृद्धि कर देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने अलौकिक जन्म लेने और दिव्य कर्म करने की बात कही तब अर्जुन ने शंका की—"भगवन्! आपके इन अलौकिक जन्म और दिव्य कर्मों को कौन जान सकता है और उनके जानने का फल क्या है?" तो इसके उत्तर में भगवान् जो कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

साधुनि के उद्धार हेतु ही तनकूँ धारूँ।
साधुनि कूँ जो कष्ट देहिँ तिनिकूँ संहारूँ॥
पापी जो अति नीच दुष्ट खल संत विरोधी।
तिनिको करन विनाश धरूँ तन जो अति क्रोधी॥
धरम-सेतु बाँधन निमित, मारन हित खल अति बिकट।
युग-युग में अवतार ले, होऊँ सब सम्मुख प्रकट॥
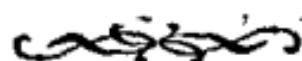
मेरे दिव्य कर्मों का वेत्ता मुझे ही प्राप्त होता है

[५]

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

मेरे हैं अति दिव्य जनम सब जन नहिँ जानें ।
करम अलौकिक विमल ताहि सब नहिँ पहिचानें ॥
ऐसी क्रीड़ा करूँ होहिँ मोहित नर नारी ।
दिव्य देह तैं करूँ करम सन्तनि सुखकारी ॥
जनम करम मेरे मधुर, विमल बुद्धि में आइँगे ।
जनम मरन तैं छुटहिँ ते, मोई में मिलि जाइँगे ॥

---

* हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, जो इन्हें तत्त्व से जानता है, वह वर्तमान देह को त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, वह मुझे ही प्राप्त हो जाता है–विमुक्त हो जाता है ॥९॥

राग भय और क्रोध से जो रहित हैं, तथा जो मुझमें स्थित रहते हैं और जो मेरे आश्रित हैं, ऐसे बहुत से ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं ॥१०॥

जन्म होता है शुभ, अशुभ पुण्य पाप रूपी कर्मों द्वारा और प्राणी कर्म करता है, पूर्वकर्मों की वासना द्वारा। एक व्यक्ति के कर्मों को देखकर उसके तीन जन्मों का अनुमान लगाया जा सकता है। एक व्यक्ति है प्रेमपूर्वक प्रसन्नता के साथ यथेष्ट दान करता है, जो जिस आशा से उसके पास याचना करने आता है, यथाशक्ति यथासामर्थ्य वह मना नहीं करता प्रसन्न होकर निरभिमान भाव से उसकी इच्छा की पूर्ति करता है। देते समय उसे प्रसन्नता होती है, देते-देते उसका मन नहीं भरता। बहुत देने पर भी उसके मन में यही रहता है, मैंने कुछ नहीं दिया और होता, तो और अधिक देता। जो सबसे मीठा वचन बोलता है, शत्रु भी जिसकी वाणी सुनकर विमुग्ध हो जाता है, जिसके मुख से कभी कटु वचन निकलते ही नहीं। रोष में भी जो ऐसे बोलता है मानों इसके मुख से फूल झर रहे हों। जो सदा सर्वदा पूजा पाठ अनुष्ठान देवपूजन, कथा कीर्तन में लगा रहता है। जिसे पूजा पाठ जप तप में आनन्द आता है, करने के अनन्तर संतोष होता है। जो सदा गौ, ब्राह्मण, सन्त महात्मा तथा अतिथियों की सेवा में लगा रहता है, जिसके द्वार से कोई असत्कृत होकर नहीं लौटता ऐसे शुभ कर्म करने वाले व्यक्ति को देखकर हम अनुमान लगा सकते है, यह पूर्वजन्म में धर्मात्मा रहा होगा, स्वर्गीय जीव रहा होगा। इसीलिये इसका ऐसा मधुर दानशील सत्कार प्रिय स्वभाव है, क्योंकि ऐसा स्वभाव बिना पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के नहीं मिलता और अब जब यह ऐसे पुण्य कर्म कर रहा है, तो अगले जन्म में अवश्य ही यह महात्मा सज्जन पुरुष होगा।

इसके विपरीत जो बात-बात पर क्रोध करने वाला हो, जिसके मुख से वाणी निकलती हो, तो ऐसी मानों विष से बुझी हो। जो मीठा बोलना जानता ही न हो जो मनका दरिद्री हो,

आई हुई वस्तु सड़ भले ही जाय, किन्तु जो दूसरों को देना जानता ही न हो। जो बात-बात में झगड़ा टंटा करता हो, अपने घर परिवार वालों से पास पड़ोसियों से सदा द्वेषभाव रखता हो। जिसके साथी संगी दुराचारी व्यभिचारी ओच्छी बुद्धि वाले व्यसनी नीच पुरुष हों। जिसकी उठन-बैठन क्षुद्र प्रकृति के नीच पुरुषों में ही हो। जो स्वयं मादक वस्तुओं का सेवन करता हो और ऐसे ही ओच्छी बुद्धि वाले व्यसनियों की सेवा करता हो। दुराचारिणी स्त्रियों से जिसका सम्बन्ध हो, ऐसे व्यक्ति को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है, यह पूर्वजन्म में दुर्गुणी नीच पुरुष रहा होगा और अगले जन्म में भी यह नीच होगा। इस प्रकार व्यक्ति के कर्मों को देखकर ही तीन जन्मों के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि जैसे जिसके कर्म होंगे वैसा उसको जन्म मिलेगा। जन्म मे मुख्य कारण शुभाशुभ कर्म ही है, किन्तु यह अनुमान साधारण जीवों के ही सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। भगवान् का भी जन्म होता है, वे भी कर्म करते हुए से दिखायी देते हैं, किन्तु न तो उनका जन्म पूर्व जन्मकृत पुण्य पापों अथवा शुभाशुभ कर्मों के कारण ही होता है और न उनके कर्म राग द्वेष या पुण्य पाप के ही निमित्त होते है। भगवान् का जन्म दिव्य है, अप्राकृत है। वास्तव में वे माता के गर्भ में आते नहीं। आते से दिखायी देते हैं। उनका जन्म लेने का संकल्प ही माता के उदर में आने के समान है। भगवान् जिस भाग्यशालिनी देवी को अपनी माता बनाने का देवदुर्लभ पद प्रदान करते हैं, उनका उदर प्रसूति मारुत से फूला सा दिखायी देता है। साधारण गर्भस्थ बालक की भाँति वे ६ महीने उदर में उलटे टँगे नहीं रहते। माता को यही प्रतीत होता है मेरे गर्भ की वृद्धि हो रही है। जब दशवाँ महीना होता है तब

वह प्रसूतिवायु निकल जाती है, पेट हलका हो जाता है, भगवान् अप्राकृत रूप से वहाँ प्रकट हो जाते हैं भगवान् देवकी मैया के सम्मुख कारावास में साधारण बालकों की भाँति पैदा न होकर चतुर्भुज रूप से प्रकट हो गये थे। उनका साधारण रूप नहीं था, दिव्य स्वरूप था। उनके नेत्र कमल के समान कमनीय कोमल विशाल तथा दर्शनीय थे। दो के स्थान में चार भुजायें थी। वे अत्यन्त ही दिव्य सुहावनी और कमलनाल के सदृश सुंदर तथा कोमल थीं। उन चारों में शख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए थे। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह जो अत्यंत ही सौंदर्य-माधुर्य और लावण्ययुक्त सुंदर सुवर्णमयी घुंघराली रेखा के समान था। कंठ में कमनीया कौस्तुभमणि शोभायमान थी वर्षा कालीन जल भरे काले-काले मेघों के समान परम शोभायमान श्याम शरीर पर सुवर्ण वर्ण का दमदमाता हुआ पीताम्बर फहरा रहा था। महा मूल्यवान वैदूर्यमणि का किरीट मस्तक की शोभा बढ़ा रहा था। दोनों कमनीय कानों में मकराकृत कुण्डल हिल रहे थे उनकी कांति से काले-काले कोमल घुंघराले बाल, बाल सूर्य की कोमल कमनीय किरणों के समान चमचम करके चमक रहे थे। कमर में दिव्य कनकमयी क्षुद्र घंटिकाओं से युक्त करधनी की ललित लड़ियाँ लटक रही थी। कमल मृणाल के सदृश दिव्य विशाल बाहुओं मे बाजूबन्द सुशोभित थे। करों में कनक के कंकण अपनी अद्भुत आभा छिटका रहे थे। उनके प्रत्येक अंग प्रत्यंग से अद्भुत आभा निकल रही थी अति अद्भुत अनोखी छटा छिटक रही थी। अब बताइये साधारण बालक तो सर्वदा नग्न जेर से, रक्त तथा मल से लिपटे पैदा होते हैं। भगवान् इन सबसे सर्वथा रहित थे। साधारण बच्चों के पैदा होते समय माता को महान् कष्ट होता है। माता देवकी तथा यशोदाजी को पता ही न चला हमारे कर

बच्चा हुआ है। साधारण बालक पैदा होते ही ह्वाऊ ह्वाऊ करके रुदन करता है। वह और कोई वचन बोल नहीं सकता। ये हमारे श्याममुंदर जन्म लेते ही मंद-मन्द मुस्कराने लगे और माता-पिता से खूब घुल-घुल कर बातें करने लगे। उन्हें सान्त्वना देने लगे। उनको सब भविष्य का कार्यक्रम समझाने लगे। ऐसा कोई साधारण बालक कर सकता है?

इसी प्रकार भगवान् ने जो कर्म किये वे सब भी ऐसे दिव्य थे, कि साधारण बालकों की शक्ति के बाहर की बात है। ६ दिन के भी नहीं हुए थे, कि इतनी भारी योजनों लम्बी-चौड़ी पूतना को पछाड़ दिया। इतने भारी गोवर्धन पर्वत को सात दिनों तक उँगली पर धारण किये रहे। सहस्रों गोपिकाओं के बीच में सहस्रों रूप रखकर निर्विकार भाव से कामक्रीड़ा की सर्वोत्कृष्ट क्रिया रासलीला को करते रहे। सोलह सहस्र एक सौ युवतियों के साथ एक ही साथ एक ही मुहूर्त में विवाह किया और उतने ही रूप रखकर उनके साथ पृथक्-पृथक् महलों में रहकर गृहस्थोचित क्रीड़ायें करते रहे। अतः भगवान् के जन्म साधारण जीवों के सदृश साधारण न होकर दिव्य होते हैं और उनके समस्त कर्म भी अप्राकृत तथा दिव्य हुआ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने शंका करी, कि आप जो युग-युग में अवतार लेकर साधु संरक्षण और दुष्ट निग्रह का कार्य करते हैं, तब आपके जन्म कर्म कैसे होते हैं। इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! मेरे जन्म भी साधारण जीवों के समान न होकर दिव्य होते हैं और कर्म भी दिव्य होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—दिव्य किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—दिव्य माने असाधारण अप्राकृतिक। यद्यपि मैं अज हूँ, कभी जन्म नहीं लेता। नित्य सिद्ध हूँ, सच्चिदानंदघन हूँ

फिर भी लीला से वैष्णवी माया द्वारा जन्म के समान अभिनय करता हूँ। इसी प्रकार धर्म की संस्थापना के निमित्त कर्मों के समान कर्मों का अनुकरण मात्र करता हूँ। उन कर्मों से किसी प्रकार के बंधन की संभावना नहीं। यही मेरे दिव्य कर्मों का रहस्य है। जो मेरे इन दिव्य जन्मकर्मों को तत्त्व से जान लेता है, वह इस देह का त्याग कर दूसरा शरीर धारण नहीं करता, पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मुझी को प्राप्त हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—तत्त्व से जानना किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अरे भाई मेरे अलौकिक कर्मों को देखकर कुछ काल के लिये तो सभी आश्चर्यचकित होकर मुझे दिव्य समझने लगते हैं, पीछे सब कुछ भूल जाते हैं, क्योंकि उन्होंने केवल मेरे प्रभाव में आकर–आश्चर्यचकित होकर–वाणी से–मेरी दिव्यता स्वीकार करली। तत्त्वतः उन्हें मेरी दिव्यता का अनुभव नहीं हुआ।"

अर्जुन ने पूछा—फिर तत्त्वतः किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—यो समझे कि मै तो नित्य शुद्धबुद्ध तथा विमुक्त हूँ किन्तु स्वेच्छा से धर्म संस्थापनार्थ और अपने निजी आश्रितों पर कृपा करने के हेतु अप्राकृत रूप में जन्म न लेकर जन्म लेने का-सा अभिनय मात्र करता हूँ। इस रहस्य को सब लोग नहीं समझ सकते। जो मेरे एकान्त भक्त है, निजी सेवक हैं, प्रपन्न हैं, शरणागत हैं तथा अनन्योपासक हैं, वे ही मेरे भक्त यथार्थ रूप से तत्त्वतः मेरे दिव्य जन्म कर्म का रहस्य जानते हैं ?

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! उन यथार्थ तत्त्वज्ञों का लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—जिनका राग, भय और क्रोध नष्ट हो गया

है, जिनका चित्त एकमात्र मुझमें ही लगा है और जो केवल मेरा ही आश्रय लिये हुए हैं वे ही यथार्थ तत्ववेत्ता हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! राग किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—किसी भी रंग में रँग जाने को राग कहते हैं। जैसे अंग को रंगने के चूर्ण को अंगराग कहते है। उसी प्रकार चित्त जिस-जिस विषय का उपभोग करता है, उनमें से जिस भोग्यवस्तु के प्रति तृष्णा बलवती हो जाती है, उसी का नाम राग है। चित्त चाहता है, उसी का आस्वादन करते रहें। जैसे कामिनी के प्रति जो तृष्णा है वह काम राग है उसी प्रकार सभी विषय भोग के फलों की आसक्ति के संबंध में समझना चाहिये।"

अर्जुन ने ने पूछा—"भय किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—शंका का नाम भय है। हम गंगा किनारे भजन करने जायंगे, तो वहाँ भोजन कहाँ मिलेगा? सब कुछ छोड़ देंगे तो जीवन निर्वाह कैसे होगा? वन में रहेंगे तो हमें वन्य पशु-पक्षी पीड़ा पहुँचावेंगे। इस प्रकार संसार में सैकड़ों प्रकार के भय हैं। उन सब भयों का परित्याग करके जो निर्भय हो गये वास्तव में वे ही यथार्थ तत्त्व को जानने वाले हैं। भय अविश्वास से होता है, "जिन्हें एकमात्र मेरा दृढ़ विश्वास है वे सदा सर्वदा निर्भय बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—क्रोध क्या? भगवान् ने कहा-अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य हो और अपने में उसे निवारण करने का अहंकार विद्यमान हो उसे ही क्रोध कहते हैं। हम भजन करने एकान्त में जायेंगे वहां हमें कोई भी इन्द्रियों के विषय उपलब्ध न होंगे। ये उपदेश करने वाले ज्ञान का पंथ बताने वाले तो सब ऐसे ही हैं।" इनके कहे अनुसार बर्ताव करने से कल्याण कैसे हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रति और ज्ञान प्रदान करने वालों के प्रति जो

द्वेष भाव होकर उनके प्रति आक्रोश के भाव होते हैं उसी का नाम क्रोध है। राग, भय और क्रोध इन तीनों को जो विवेक के द्वारा, विचार के द्वारा, वैराग्य के द्वारा नष्ट कर देते हैं वे ही राग भय क्रोध से रहित कहलाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपमें चित्त लगने के लक्षण क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जिनका चित्त मुझ ईश्वर को छोड़कर कहीं अन्यत्र-संसारी भोगों में-भूलकर भी नहीं जाता वे ही मुझमें तन्मय होने वाले पुरुष मन्मय कहलाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका ही आश्रय लेने वालों का लक्षण क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जो मेरे अतिरिक्त संसार के किसी भी व्यक्ति का दुःख निवृत्ति के निमित्त आश्रय न लें। यही विश्वास रखें कि भगवान् ही हमारे सब दुःखों को दूर कर देंगे। वे ही हमारा सब प्रकार से कल्याण करेंगे। इस प्रकार यह एक प्रकार की तपस्या है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! तपस्या तो निराहार रहकर-अनशन करके-शरीर को सुखाने को कहते है। इसे आप तपस्या क्यों बता रहे हैं?"

भगवान् ने कहा—"शरीर को तपाना तो तप है ही, किन्तु यह ज्ञानरूपी तप उस शरीर को सुखाने वाली तपस्या से श्रेष्ठ है इस ज्ञानरूपी तपस्या को करने वाले ज्ञान तपस्वी मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। शारीरिक तपस्या का फल तो स्वर्ग है, किन्तु ज्ञान रूप तप के तपस्वी मेरे भाव से भावित होकर मेरे स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! यह तो बहुत ही कठिन तप है। राग भय क्रोध से रहित होना सदा आपमें ही तन्मय बने रहना

तथा एकमात्र आपको ही अपने जीवन आश्रय समझते रहना ये सभी बातें कठिन ही नहीं दुर्लभ है, असंभव सी हैं। ऐसे तप से पवित्र हुए कोई आपके भक्त आपको प्राप्त हुए भी है या नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, अर्जुन ! तुम एक दो की बात कहते हो। ऐसे असंख्यों बहुत से ज्ञान तप पूत भक्त मुझे प्राप्त कर चुक है, उन सबके नाम तुम्हें कहाँ तक गिनाऊँ। महाराज रन्तिदेव तथा उनके सभी साथी नारायण-पारायण बन गये। आत्मज्ञानी महाराज शान्तरथ महाराज जनके वंश में उत्पन्न अनेक राजा तथा महाराज हिरण्यनाभ आदि असंख्यों राजा इसी ज्ञान तप रूपी योग के प्रभाव से विमुक्त बन गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! तब अर्जुन ने शंका की क्या भगवन् ! आप एक सी साधना करने वालो को ही मिलते हैं। कोई दूसरे प्रकार से आपका भजन करे तो उसका क्या होगा। इसका उत्तर जो भगवान् देंगे उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

कोई पहिले मिल्यो भई शंका जब मन में।
कहें कृष्ण भगवान-भक्त जो जनमें जग में॥
राग, द्वेष जिनि छुट्यो कोध जिनि में है नाहीं।
तन्मय मोमे सतत रहें मेरे ही माहीं॥
मेरे आश्रित जे रहें, ज्ञान रूप तप करि सतत।
भये बहुत मम रूपरत, मोर भाव-भावित भगत॥

जो मेरी जिस रूप की पूजा करते हैं, उन्हें मैं उसी रूप से फल देता हूँ

[६]

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

जैसे मेरे भक्त भजें जब जा प्रकार तैं ।
मैं हूँ तैसे भजूँ भक्त अनुकूल भाव तैं ॥
चारिहु दिशि तैं आइ मिलै सागर में सरिता ।
अभिमत करिकें ध्यान होहि मोई में ममता ॥
सिमिटि सिमिटि सागर मिलैं, बरसा कूप तडाग जल ।
सब पथ तैं मेरे निकट, आवै और न अन्य थल ॥

---

* हे पार्थ ! जो मुझे जिस भाव से भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं ॥११॥

इस लोक में कर्मों के फलेच्छुक लोग देवताओं का पूजन करते हैं, क्योंकि कर्मजा सिद्धि सुरों द्वारा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ॥१२॥

यह संसार भिन्न-भिन्न रुचि वाला है। किसी भी एक व्यक्ति की आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, स्वभाव दूसरे से नहीं मिलते। एक वृक्ष में लाखों पत्ते हैं, सबमें कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होगी। सबकी वाणी, आकृति, हाथ की रेखायें, हस्ताक्षर सभी एक दूसरे से भिन्न होंगे। यह विभिन्नता क्यों है ? क्योंकि सृष्टि विभिन्नता में ही है। एकता में प्रलय है, विषमता का ही नाम संसार है। ऐसी विषमता भगवान् ने क्यों बनायी ? अब भगवान् की बात तो भगवान् ही जानें। हम तो यही कह सकते हैं, यह सब उनकी लीला है, क्रीड़ा है, विनोद है, नटनागर अपने खेल के लिये इस विषम जगत् को रचकर विहार कर रहे है, क्रीड़ा कर रहे है। संसार को विषम मानकर ही सब सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं।

सबकी रुचि भिन्न है। कोई वस्तु किसी को बहुत अच्छी लगती है, वही वस्तु दूसरे को बहुत बुरी लगती है। कोई व्यक्ति एक मनुष्य को साक्षात् ईश्वर समझता है, उसी का दूसरा भाई उसे ढोंगी, पाखंडी, धूर्त और न जाने क्या-क्या कहता है। सबकी भावनायें भिन्न-भिन्न हैं, सबके उद्देश्य भिन्न है, सबकी प्राप्य वस्तुएँ भिन्न है। इसीलिये द्वन्द्व की सृष्टि कही जाती है। सुख-दुख पुण्य-पाप धर्माधर्म अच्छा-बुरा इन्हीं सबका नाम द्वन्द्व है। इसीलिये सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कोई सात्त्विक् प्रकृति के होते हैं, कोई राजस् प्रकृति के और कोई तामस् प्रकृति के। कोई धर्मप्रिय हैं, कोई अधर्मप्रिय। इसीलिये पुरुषार्थ एक न होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार बताये हैं। कोई धर्म को ही सब कुछ समझते हैं, कुछ लोग धन को ही सर्वस्व मानते हैं। अर्थ प्राप्ति के लिये वे सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं; कोई काम प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। काम सुखों के ही पीछे सदा पागल बने रहते हैं। कोई मोक्ष प्राप्ति को ही सब कुछ समझते हैं। मोक्ष

के ही लिये वे मुमुक्षु जीव सतत प्रयत्न करते रहते है। भगवान् के भजन करने वाले भी सब एक प्रकृति के नहीं होते कोई संसारि दुःखो से दुखी होकर उन दु.खों से त्राण पाने के निमित्त भगवान् का भजन करते हैं, कोई, ब्रह्म क्या है, जगत् क्या है, बंधन क्या है, मोक्ष क्या है, इन बातों की जिज्ञासा के लिये ही व्यग्र बने रहते हैं। कोई अर्थ को ही सब कुछ समझकर अर्थ प्राप्ति के ही निमित्त भगवान् का भजन करते हैं, कोई ज्ञाननिष्ठ होकर सदा सर्वदा ब्रह्मानन्द में ही निमग्न बने रहना चाहते हैं। इस प्रकार यह जगत् भिन्नता का भंडार है। सब एक दूसरे से भिन्न, सब एक दूसरे से किसी न किसी बात में विपरीत। भगवान् तो सबसे बड़े खिलाडी हैं, वे भी इस विभिन्नता को स्वीकार करके ही क्रीड़ा करते हैं। बहुत से ज्ञानी शास्त्रों की दुहाई देकर कहते हैं ब्रह्म एक अद्वय, भेदभाव से शून्य निर्गुण, निराकार है। भगवान् धीरे से उनके कान में कह देते हैं—"तुम ठीक कहते हो, मै निर्गुण निराकार भेदभाव से रहित अद्वितीय ही हूँ।

फिर कुछ लोग कहते हैं—"वेद तो कहता है, जीव ब्रह्म पृथक्-पृथक् हैं दो पक्षी समान भाव से वृक्ष पर बैठे है, एक कुछ नहीं खाता, एक फल को खाता है।" इसलिये द्वैत ही हैं। भगवान् उनके कान में कह आते है—"तुम सर्वथा सत्य कहते हो, मैं द्वैत ही हूँ। अद्वैत किसी प्रकार भी नहीं। कुछ कहते हैं ब्रह्म द्वैताद्वैत है। भगवान् उनके भी कान में कहते हैं वास्तव में मै भेदाभेद ही हूँ। कुछ कहते हैं वे भेद हैं या अभेद यह विषय मनुष्य की बुद्धि के बाहर है अचिन्त्य है, उनके कान में भगवान् कह देते हैं—"वास्तव में मैं अचिन्त्य भेदाभेद रूप ही हूँ। इसलिये भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं भगवान् का साक्षात्कार उन्हें उसी रूप से होता है। कोई उन्हें शिव रूप से पूजते हैं, कोई शक्ति

रूप से, कोई गणेश, सूर्य तथा विष्णु रूप से। जो जिस रूप से उन्हें पूजता है उसे उसी रूप में भगवान् दर्शन देते हैं। आप कहेंगे तब तो भगवान् बहुरूपिया है, नाटप्रिय है, मायावी हैं, जो नाना रूप बना लेते है। वेद में ये भी भगवान् के नाम हैं। प्रकृति को माया कहा है और माया वाला मायावी महेश है। आप पूछेंगे कि फिर वास्तव में भगवान् हैं क्या? तो इसका उत्तर यही है, कि वास्तव में भगवान् का कोई रूप नहीं वे अरूपी हैं, भक्त जैसा रूप चाहते हैं भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। गंगाजी की गीली चिकनी मिट्टी का कोई रूप नहीं है। खेलने वाले बालक हाथी बनाना चाहेंगे, हाथी की आकृति बन जायगी फिर उसे मिटाकर बन्दर बनाना चाहेंगे बन्दर की आकृति हो जायगी। उस गीली मिट्टी से पशु, पक्षी, पौधा, पेड़, मनुष्य, सर्प जिसकी भी आकृति बनाना चाहो उसी की सी आकृति बन जायगी। गंगाजी की गीली मिट्टी मना नहीं करेगी। फिर उसे छोड़ दो, अपने स्वरूप की हो जायगी। अपना तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं अरूप हो जायगी। ऐसे ही भगवान् विनोदी हैं। विनोद-विनोद में सब बन जाते हैं। जो उन्हें पुत्र बनाना चाहता है, उसे पिताजी माताजी कहने लगते है। जो उन्हे सखा बनाना चाहता है, उससे हृदय से हृदय सटाकर मिलते हैं, जो उन्हे स्वामी बनाना चाहता है उसे दास समझ कर आज्ञा देते हैं, जो उन्हें पति बनाना चाहता है, उसका मन्द-मन्द मुस्कराते हुए घूँघट खोलते है। विनोदी को तो विनोद चाहिये। उसका अपना कोई रूप नही। इस सम्बन्ध का एक दृष्टान्त है।

एक देहाती पंडितजी थे। पूरे गाँव में उनकी यजमानी थी। उनके यजमान प्रायः सब किसान ही थे। कुछ बहुत निर्धन थे, कुछ खाते पीते साधारण मध्यवित्त वाले किसान थे। एक दिन एक

किसान ने उन्हें निमन्त्रण दिया। पंडितजी ने समझा खीर पूड़ी बनी होंगी। अतः स्नान करके केशर मिश्रित सुगन्धित चन्दन लगाकर, नई धोती अंगरखी पहिन कर, बड़े ठाट-बाट से न्योता खाने गये। वहाँ जाकर देखा कि खीर पूड़ी तो हैं नहीं मक्का की रोटी और चने का साग परसा जा रहा है। तब आप बोले—"तुम तब तक परसो मै एक काम करके अभी आता हूँ।" यह कहकर पंडितजी दौड़कर घर गये। उन्होंने नई धोती अंगरखी उतार कर रख दी। एक फटी सी मैली धोती पहिनी, एक फटा सा पुराना कंबल लपेट लिया। केशर चन्दन मिटाकर कंकड़ घिसकर उसका तिलक लगा लिया और भोजन करने गये।

यजमान ने जब इनका ऐसा सर्वथा बदला हुआ रूप देखा, तो वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने पूछा—"पंडितजी! यह क्या? आप तो एकदम बदल ही गये, यह आपने कैसा रूप बना लिया?"

तब हँसते हुए पंडितजी बोले—"भैया, वह जो रूप था, वह खीर पूडी का रूप था, जब मैंने देखा, यहाँ तो मक्का की रोटी और चने का साग है, तो उसी के अनुरूप रूप बनाकर आया हूँ। "जैसी तेरी कोमरी वैसे मेरे गीत।" जैसा खेल हो वैसा ही वेप बनाने से वह खेल फबता है। भगवान् भी विनोदी हैं, वे भी भक्तों की भावना के अनुरूप वेप बनाकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने शंका की कि ज्ञान तप से विशुद्ध साधक तो आपको प्राप्त हो जायँगे, किन्तु जो तपस्वी नहीं हैं ज्ञान से पवित्र नहीं हुए हैं, ऐसे अपवित्र और असाधु पुरुप आपको प्राप्त नही हो सकते? इस पर भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन! ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए जो बहुत से साधक थे वे

मुझे ही पाना चाहते थे, इसीलिये वे मुझे प्राप्त हो गये। जो मुझे पाना चाहते ही नहीं, वे मुझे कैसे प्राप्त होंगे?"

इस पर अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप तो समदर्शी हैं, आपकी दृष्टि में तो सभी बराबर हैं। ज्ञानी अज्ञानी का छोटे बड़े का भेद तो साधारण लोगों में होता है। माता-पिता की दृष्टि में तो सभी सन्तानें समान हैं। सभी पर समान भाव से दया करनी चाहिये। पक्षपात और निर्दयता तो संसारी लोग करते है आप तो विषमता तथा निघृणता दोषो से रहित हैं, आपको तो सभी को एक सी गति देनी चाहिये, फिर चाहें वे ज्ञान तप से पवित्र हों या अपवित्र। आपकी तो सब सन्तानें ही हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा—भाई, एक दृष्टि से तो सब समान हैं, फिर भी स्थिति के अनुसार भेद न करें तो संसार ही न चले। माता के ४ पुत्र हैं। एक दृष्टि से तो सब समान है, सबको एक सा भोजन देना चाहिये, किन्तु जिसे सावधिक ज्वर है, उसे माता उपवास कराती है, जिसे अजीर्ण है, उसे पतली खिचड़ी देती है, जो हृष्ट-पुष्ट है उसे हलुआ देती है। स्थिति के अनुसार भेदभाव करना ही पड़ता है। जो लोग मुझे जिस भाव से भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ, अर्थात् उन पर उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ। आर्त भक्त दुःख दूर करने को भजन करता है, तो मैं दुखहर्ता के रूप से उसके दुःख को दूर करता हूँ। जैसे द्रौपदी ने आर्त होकर मुझे पुकारा। वह विवस्त्रा बनना नहीं चाहती थी, अतः मैं वहाँ अनन्त वस्त्र रूप में बन गया। जो जिज्ञासु बनकर मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं गुरु रूप से उपदेश देता हूँ। जो अर्थार्थी बनकर मेरा भजन करते हैं जैसे ध्रुव। उनके सम्मुख मैं उसी रूप में प्रकट होकर उनकी मन चाही राज्यादि वस्तुएं

हूँ। ज्ञान रूपी तप से पवित्र ज्ञानी मुझे ही चाहते हैं, अतः वे मेरे भाव को ही प्राप्त हो जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन्! जो आपको भजे उसी को मन चाही वस्तु प्राप्त हो। जो आपको न भजे, किसी अन्य देवता की उपासना करे, तो क्या उसकी इच्छा पूर्ति न होगी?"

भगवान् ने कहा—मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा देव है ही नहीं। मैं ही एकमात्र देव हूँ। मेरे ही अन्य देवता सब रूप हैं। सूर्य चन्द्र मेरे ही चक्षु हैं, इन्द्रादिदेव मेरी ही बाहुएँ हैं। किसी भी देवता की उपासना करो, अन्त में वह मेरे ही पास पहुँचेगा। जल को जहाँ भी डाल दो भूमि पर, नदी में, तालाब में, आकाश में इर-फिर कर वह समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—जब इर-फिर कर आपके ही पास पहुँचने वाला है, तो लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते। इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि आदि देवताओं की पूजा क्यों करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मानव सरलता चाहता है। व्यय कम हो, श्रम कम करना पड़े और फल शीघ्रातिशीघ्र मिल जाय, यह जीव धर्म है। सर्व साधारण लोग मोक्ष नहीं चाहते, मुझे नहीं पाना चाहते। वे तो काम सुख के इच्छुक हैं। उन्हें नाना कामनायें दुःख देती रहती हैं। उन कामनाओं की पूर्ति देवताओं से शीघ्र हो जाती है। मुझे पाने के लिये तो चिरकाल तक जप, तप, मन्त्रानुष्ठान, त्याग, वैराग्यादि करना पड़ता है। वे इन सब झमेलों में पड़ना नहीं चाहते। वे चाहते हैं इस हाथ देना उस हाथ लेना। हे देवीजी मेरे बच्चे का ज्वर उतर जाय तो मैं सवा सेर लड्डू चढाऊँगो। वे सवा सेर लड्डू देकर ही अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहते हैं। इसीलिये नाना भाँति की कामना वाले लोग,

अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहने वाले पुरुष मेरा पूजन न करके देवताओं का ही पूजन करते हैं, क्योंकि इस संसार को धन, स्त्री, आरोग्य आदि कामनाओं की सिद्धियाँ इन देवताओं से शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। उन्हें इन्हीं की चाहना है। अतः देवताओं को पूजते हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! इन भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव भिन्न-भिन्न क्यों होता है? सबके समान गुण तथा कर्म क्यों नहीं होते?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

नहीं करें निष्काम करम जे चाहें तिनि फल।
मिलि जावे फल तुरत होहि नहिँ कबहुँ निष्फल॥
फल आकांक्षी पुरुष करें पूजन देवनि को।
विनती पुनि-पुनि करें देव! देवो फल मन को॥
करम करें फल के निमित, ते अति क्षुद्र कहात हैं।
मर्त्यलोक में भोग सुख, तुरत तिनहिँ मिलि जात हैं॥

गुण कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था

[७]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥❀

(श्री भग० गी० ४ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारि वरन हैं।
गुन अरु करम विभाग सवनि के अलग-अलग हैं॥
मैंने ई सब रचे सवनि के करम बताये।
जैसे जाके करम यथा क्रम तिनहिं लगाये॥
सृष्टि, नाश, पालन भरन, करूँ मोइ करता कहत।
अविनाशी निरलिप्त बनि, सदा अकरता ई रहत॥

❀ गुण कर्म और स्वभाव से चारों वर्ण मेरे ही द्वारा रचे गये हैं उनका कर्ता होने पर भी मुझ अव्यय को तुम अकर्ता ही समझो ॥१३॥

मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, क्योंकि कर्म फल में मेरी स्पृहा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे भली भाँति जानता है, वह भी कर्मों में नहीं बँधता ॥१४॥

यह सृष्टि रूपी निरन्तर बहने वाली नदी गुण कर्म प्रवाह के कारण बहती रहती है, इसमें गुण कर्म प्रवाह जब बन्द हो जाता है, तब इसका प्रवाह बन्द हो जाता है, सृष्टि का प्रलय हो जाता है, क्योंकि यह संसार का चक्र है, पहिया है, कभी रुकने वाला नहीं समय पाकर फिर चालू हो जाता है। चलना और रुकना दोनों कर्म है, अतः यह कर्म शृंखला अनादि है और सदा चलती रहती है। इसलिये संसार चक्र सदा ऐसा ही चलता रहता है।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इनमें सत्त्व गुण की प्रधानता से सात्त्विक कर्म होते हैं, रजो गुण की प्रधानता से राजसी कर्म होते हैं और तमोगुण की प्रधानता से तमोगुणी कर्म होते हैं।

इन गुणों और कर्मों को उत्पन्न किसने किया? तो कहना चाहिये। गुण और कर्म ही संसार की उत्पत्ति में मूल कारण हैं, जिसने इस संसार को उत्पन्न किया, इन गुण कर्म प्रवाह का कर्ता है।

अब प्रश्न यह उठता है, कि जो वृक्ष लगाता है, वह उसके फल खाने का भी अधिकारी है। जिसने इस त्रिगुणात्मक दुःख मूल संसार को बनाया, उसे भी दुःख व्याप्त होता होगा। इस पर कहते हैं, उन संसार रूपी वृक्ष के बीज रूप और कर्ता रूप प्रभु को अणु मात्र भी दुःख नहीं व्यापता। वे कर्ता होकर भी अकर्ता बने रहते हैं। कर्म करते हुए भी अकर्मी बने रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, ऐसा तो सम्भव नहीं? तो इसका उत्तर यही है कि भगवान् के लिये कोई सम्भव असम्भव का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, इस बात को भगवान् ने बारम्बार कहा है वेदों में भी बताया है वह पैर वाला

नहीं है, फिर भी बड़े वेग से चलता है, यद्यपि उसके हाथ नहीं। फिर भी वह भाँति-भाँति के कार्य करता है। इत्यादि-इत्यादि।

जब माया में ही कोई असम्भव बात नहीं, सभी सम्भव है तो मायेश के लिये तो कहना ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने भागवान् से स्वभाव की भिन्नता का कारण पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! यह संसार गुण के विभाग से और कर्मों के विभाग से भिन्न ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"गुण का विभाग क्या ?"

भगवान् ने कहा—कोई सत्त्व गुण सम्पन्न होते हैं, कोई रजोगुणी होते हैं और कोई तमोगुणी स्वाभाव वाले होते हैं। *यही गुणों का विभाग है।*

अर्जुन ने पूछा—कर्म विभाग क्या ?

इस पर भगवान् ने कहा—जो जैसे गुण वाला होगा उसका स्वभाव भी वैसा होगा और उसके कर्म भी वैसे ही होंगे। जैसे सत्वगुण सम्पन्न व्यक्ति शम, दम तपस्या आदि सात्त्विक कर्म करेगा। रजोगुणी, शौर्य तेज युद्धादि राजसी कार्य करेगा। तमोगुणी निद्रा आलस्य प्रमाद आदि कर्मों को करेगा। इन्हीं गुण कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनी है।

अर्जुन ने पूछा—गुण कर्म विभाग से चातुर्वर्ण व्यवस्था कैसे बनी है।

भगवान् ने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इन चार वर्णों वाले समाज संगठन को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहते हैं। जैसे ब्राह्मण सत्त्वगुण प्रधान होंगे वे शम, दमादि कर्म भी सात्त्विक करेंगे। जिनमें सत्वगुण तो थोड़ा सा गौण रूप से होता है, रजोगुण की प्रधानता होती है वे क्षत्रिय वर्ण के होते हैं, उनके